SWAMI VIVEKANANDA

The Hindoo Monk of India

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक ७

जुलाई १९९९

मूल्य रु. ५.००
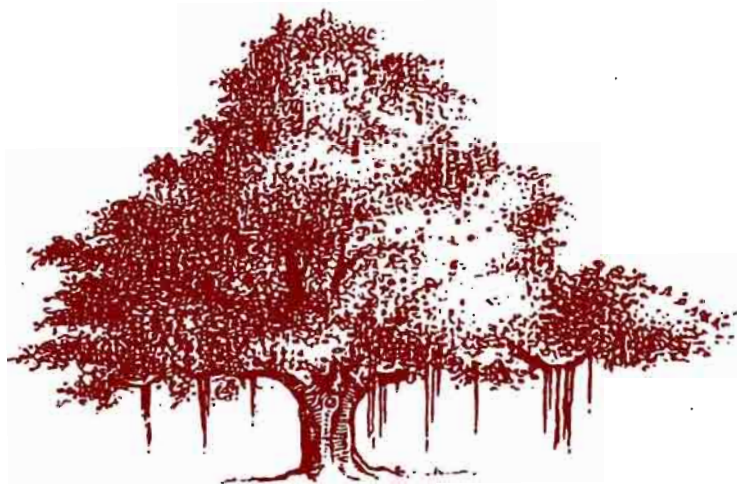
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक ७ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर — ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(छठवीं तालिका)

२५१. सुश्री मनीषा खुल्लर, अशोक विहार, दिल्ली
२५२. श्री चेतन कश्यप, रोहिणीपुरम, दिल्ली
२५३. श्री जोगिन्दर सिंह पठानिया, थारु, कांगरा (हि.प्र.)
२५४. श्री राजेश कुमार मनीरामका, क़लकत्ता, (प. बंगाल)
२५५. श्रीमती डॉ. उमा कुमारी नायर, गैरतगंज, रायसेन, (म.प्र.)
२५६. श्री संजय ओमप्रकाश निगम, कोलबाड़, ठाणे (महाराष्ट्र)
२५७. श्री कन्हैयालाल चौहान, सिभरियाकला, नरसिंहपुर (म.प्र.)
२५८. श्री हरिराम राजवाडे, सिंगपुर, बिलासपुर, (म.प्र.)
२५९. श्री योगेश अग्रवाल, कटोरा तालाब, रायपुर (म.प्र.)
२६०. श्रीमती लक्ष्मी रमैया, शान्तिपुर, रायपुर (म.प्र.)
२६१. श्रीमती लता वर्मा, टाटीबंध कालोनी, रायपुर (म.प्र.)
२६२. श्रीमती डॉ. शैल पाण्डेय, टैगोर टाऊन, इलाहाबाद (उ.प्र.)
२६३. श्री ओ.पी. दुबे, कोरर, कांकेर (म.प्र.)
२६४. श्री जी.एन. शुक्ला, बैकुण्ठ, रायपुर (म.प्र.)
२६५. श्री बाँके बिहारी वर्मा, बड़े उरला, अभनपुर, रायपुर (म.प्र.)
२६६. अध्यक्ष श्रीरामकृष्ण मन्दिर ट्रस्ट, भीमपुर, वड़ोदरा (गुजरात)
२६७. स्वामी अव्ययात्मानन्द जी, कानपुर (उ.प्र.)
२६८. श्री गौरसिंह दीवान, ठाकुर दियाकला, महासमुन्द (म.प्र.)
२६९. श्रीरामकृष्ण सेवा संस्थान,रीवाँ (म.प्र.)
२७०. आचार्य, अरविन एल. बीलखा, जूनागढ़ (गुजरात)
२७१. श्री के. एल. कौल, गुड़गाँव (हरियाणा)
२७२. श्री गणेश शंकर देशपाण्डे, पद्मनाभपुर, दुर्ग (म.प्र.)
२७३. प्राचार्य, शा.उ.मा. विद्यालय लेजोरा, पुरसगाँव, बस्तर (म.प्र.)
२७४. श्रीमती चित्रा एन. भारद्वाज, नागपुर (महाराष्ट्र)
२७५. श्रीमती अनुश्री डी. गरुड़, शंकरनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
२७६. श्रीमती सुषमा डी. अन्धारे, त्रिमूर्तिनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
२७७. श्री धनंजय शर्मा, बैरनबाजार, रायपुर (म.प्र.)
२७८. श्रीमती स्नेहलता अग्रवाल, लक्ष्मण चौक, देहरादून (उ.प्र.)
२७९. श्री आर. के. गनेरीवाल, नागपुर (महाराष्ट्र)
२८०. श्री रवीन्द्र छाबड़ा, मायापुरी, नई दिल्ली
२८१. श्री रघुनाथ मन्दिर, शामली, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
२८२. श्री रामकृष्ण आश्रम, करणनगर, श्रीनगर (जम्मू-काश्मीर)

२८३. श्री नन्दलाल वाघवानी, भोपाल (म.प्र.)
२८४. डॉ. संजय अलंग केवलारी, सिवनी (म.प्र.)
२८५. श्री हर्षाभाई एच. पटेल, डभोई , खेड़ा (गुजरात)
२८६. डॉ. के. एन. दुबे, जनकपुरी, जबलपुर (म.प्र.)
२८७. श्री अनिल माथुर, चाँदनी चौक, दिल्ली
२८८. डॉ. शीला रानी, अलवर (राजस्थान)
२८९. श्री जितेन्द्रवीर गुप्ता, चण्डीगढ़
२९०. श्री राजेन्द्र इन्दौरिया, बेरासिया रोड, भोपाल (म.प्र.)
२९१. श्री राजेन्द्र के. देशपाण्डे, चारठाणा, परभणी (महाराष्ट्र)
२९२. श्रीमती ज्योति दीक्षित, सीताबर्डी, नागपुर (महाराष्ट्र)
२९३. श्री लुनेशकुमार वर्मा, बलौदाबाजार, रायपुर (म.प्र.)
२९४. श्री यतीन एस. टिम्बले, दादर, मुम्बई (महाराष्ट्र)
२९५. श्री हरिहर दास, अयोध्या, फैजाबाद (उ.प्र.)
२९६. श्री नरेन्द्र गोविन्दानी, उप्पलवाड़ी, नागपुर (महाराष्ट्र)
२९७. श्री बद्रीप्रसाद विश्वकर्मा, कबीर मार्ग, जबलपुर (म.प्र.)
२९८. श्री जी. डी. झालानी, इन्दौर (म.प्र.)
२९९. श्रीमती कोमल रुधानी, जरीपटका, नागपुर (महाराष्ट्र)
३००. श्री आर. पी. सुखीजा, जलविहार कालोनी, रायपुर (म.प्र.)

आजीवन ग्राहकों को सूचना

मासिक 'विवेक-ज्योति' का आजीवन ग्राहकता शुल्क (पच्चीस वर्षों के लिए) रु. ७०० निर्धारित हुआ है। जिन ग्राहकों ने पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान १००, २०० या ३०० रुपये की दर से यह शुल्क जमा किया है, उनसे अनुरोध है कि वे अपने ग्राहक संख्या का उल्लेख करते हुए बाकी राशि का, अपनी सुविधानुसार इकट्ठे या किस्तों में मनिआर्डर या बैंकड्राफ्ट के द्वारा यथाशीघ्र इसी वर्ष (१९९९ ई.) जमा कर दें। भेजी जानेवाली राशि का विवरण इस प्रकार है — ग्राहक संख्या L-९१४ से L-३४१४ तक रु. ६००/- ग्राहक संख्या L-३४१५ से L-३९२५ तक रु. ५००/-; ग्राहक संख्या L-३९२६ से L-४१९३ तक रु. ४००/-

जिन सदस्यों की राशि जनवरी २००० ई. के पूर्व प्राप्त हो जायेगी, उन्हें जनवरी '९९ से पच्चीस वर्षों के लिए नया आजीवन सदस्य बना लिया जायेगा।

नवीनीकरण के लिए बाकी राशि न प्राप्त होने पर जमाराशि में से प्रतिवर्ष का वार्षिक शुल्क (रु. ५०) काट लिया जायेगा और राशि समाप्त हो जाने पर अंक भेजना स्थगित कर दिया जायेगा।

— *व्यवस्थापक*

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

चित्त को सलाह

परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्राम्यतां
स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा ।
अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पय-
न्नतर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम् ।।

अर्थ – हे चित्त, तुम व्यर्थ ही (इधर-उधर) क्यों भटकते हो, कहीं थोड़ा विश्राम तो करो! जहाँ जो कुछ होता है, वह अपने आप ही होता है, उससे भिन्न कुछ नहीं हो सकता । (तुम्हारे शान्त होने पर) अतीत का स्मरण तथा भविष्य के संकल्प छोड़कर, प्रारब्धवश प्राप्त होनेवाले विषयों का ही मैं भोग करूँगा ।

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थ- गहनादायासकादाश्रय
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात् ।
स्वात्मीभावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां गतिं
मा भूयो भज भङ्गुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ।।

अर्थ – हे चित्त! तुम इस दुःखदायी इन्द्रियों के विषयरूप वन से निकल जाओ और तत्काल समस्त तापों का शमन करने में समर्थ श्रेयपथ का अनुसरण करो; अपने जल की तरंगों के समान चंचल आचरण को त्यागते हुए अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित हो जाओ और क्षणभंगुर संसार की आसक्ति को छोड़कर अब सन्तुष्ट हो जाओ ।

— भर्तृहरिकृत **वैराग्यशतकम्, ६२-६३**

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

— १ —

(बहार-त्रिताल)

प्रगट हुए हैं आज धरा पर रामकृष्ण भगवान ।
आओ मिलकर खुशी मनाएँ, है यह दिवस महान ॥
निशा जा चुकी घोर तमोमय, उषा ला रही नव अरुणोदय,
जागी नयी चेतना सब में, आया सुखद बिहान ॥
धर्म जगत् की ग्लानि मिटाने, साधु-सुजन के प्राण जुड़ाने,
कृपादृष्टि से करने सबका, भव-बन्धन से त्राण ॥
अपनी जीवन ज्योति जगाकर, सहज सरल अति मार्ग दिखाकर,
करते आर्त दुखी जग-जन को, वर-निर्भयता दान ॥

— २ —

प्रभु तुम फिर इस जग में आए ।
चिन्मय सुन्दर नरकाया धर, राह दिखाने आए ॥
इस जड़युग में काम-लोभ का, फैला घोर अँधेरा था,
त्यागीश्वर हो जन-जीवन में, ज्योति जगाने आए ॥
धर्म-अधर्म विषय इस जग में घोर विवाद छिड़ा था,
सत्यधर्म की व्याख्या करने, वेदमूर्ति हो आए ॥
सब पन्थों के बीच परस्पर वैमनस्य फैला था,
साधन कर सबका उनमें सद्भाव कराने आए ॥
साधु-सुजन के अन्तर में भी, भय-संशय व्यापा था,
धर्मप्रतिष्ठा कर इस जग से भ्रान्ति मिटाने आए ॥

— विदेह

(स्वामी अखण्डानन्दजी को लिखित)

कैलिफोनिया,
२१ फरवरी, १९००

कल्याणवरेषु,

तुम्हारा पत्र पाकर और विस्तारपूर्वक सब समाचार पढ़कर मुझे अति हर्ष हुआ। विद्या और पाण्डित्य बाह्य आडम्बर हैं और बाह्य भाग केवल चमकता है; परन्तु सब शक्तियों का सिंहासन हृदय होता है। ज्ञानमय, शक्तिमय तथा कर्ममय आत्मा का निवासस्थान मस्तिष्क में नहीं वरन हृदय में है। **शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः** – हृदय की नाड़ियाँ एक सौ एक हैं, इत्यादि। मुख्य नाड़ी का केन्द्र जिसे संवेदक समूह (sympathetic ganglia) कहते हैं, हृदय के निकट होता है; और यहाँ आत्मा का निवास दुर्ग है। जितना अधिक तुम हृदय का विकास कर सकोगे, उतनी अधिक तुम्हारी विजय होगी। मस्तिष्क की भाषा तो कोई ही समझता है, परन्तु हृदय की भाषा, ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सभी समझ सकते हैं। परन्तु हमें अपने देश में तो ऐसे लोगों को जाग्रत करना है, जो मृतप्राय हैं। इसमें समय लगेगा, परन्तु यदि तुममें असीम धीरज और उद्योगशक्ति है, तो सफलता निश्चित रूप से ही प्राप्त होगी। इसमें तनिक भी त्रुटि नहीं हो सकती।

अंग्रेज कर्मचारी का क्या दोष है? क्या ऐसे परिवार, जिनकी अस्वाभाविक निर्दयता के बारे में तुमने लिखा है, भारत में अनोखे हैं? या ऐसों का बाहुल्य है? पूरे देश में यह एक ही कथा है। परन्तु यह स्वार्थपरता जो हमारे देश में साधारणतः पाई जाती है, निरी दुष्टता का ही परिणाम नहीं है। यह पाशविक स्वार्थपरता नहीं है, बल्कि अगाध नैराश्य है। सफलता के पहले झोंके से ही वह शान्त हो जायगा। अंग्रेज कर्मचारी चारों ओर इसी को देखते हैं, इसीलिए उन्हें आरम्भ से ही विश्वास कैसे हो सकता है? परन्तु मुझे यह बताओ कि जब सच्चा कार्य वे प्रत्यक्ष देखते हैं, तो वे क्या सहानुभूति नहीं प्रकट करते? देशी कर्मचारी क्या इस प्रकार कर सकेंगे?

इन उग्र दुर्भिक्ष, बाढ़, रोग और महामारी के दिनों में कहो तुम्हारे काँग्रेसवाले कहाँ हैं? क्या इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'राजशासन हमारे हवाले कर दो?' और उनकी सुनेगा भी कौन? यदि मनुष्य काम करता है, तो क्या उसे अपना मुख खोलकर कुछ माँगना पड़ता है? यदि तुम्हारे जैसे दो हजार लोग कई जिलों मे काम करते हों, तो राजकाज के विषय में अंग्रेज स्वयं ही बुलाकर तुमसे सलाह लेंगे!! **स्वकार्यमुद्धरेत्प्राज्ञः** – बुद्धिमान मनुष्य को अपना कार्य स्वयं पूर्ण करना चाहिए। अ... को केन्द्र खोलने की अनुमति नहीं मिली,

परन्तु इससे क्या ? क्या किशनगढ़ ने नहीं मान लिया? उसे चुपचाप काम करने दो, किसी से कुछ कहने की या विवाद करने की आवश्यकता नहीं। जो जगज्जननी के इस कार्य में सहायता करेगा उस पर उनकी कृपा होगी और जो उसका विरोध करेगा वह केवल — **अकारणाविष्कृतवैरदारुणः** — अकारण ही भयानक वैर का आविष्कार ही न करेगा, वरन् अपने भाग्य पर भी कुठाराघात करेगा।

शनैः पन्थाः इत्यादि, सब अपने समय पर होगा। बूँद बूँद से घड़ा भरता है। जब कोई बड़ा काम होता है, जब नींव पड़ती है या मार्ग बनता है, जब दैवी शक्ति की आवश्यकता होती है — तब एक या दो असाधारण मनुष्य विघ्न और कठिनाइयों के पहाड़ को पार करते हुए चुपचाप और शान्ति से काम करते हैं। जब सहस्रों मनुष्यों को लाभ होता है, तब बड़ा कोलाहल मचता है पूरा देश प्रशंसा से गूँज उठता है। परन्तु तब तक वह यन्त्र तीव्रता से चल चुका होता है और कोई बालक भी उसे चलाने का सामर्थ्य रखता है या कोई भी मूर्ख उसकी गति में वृद्धि कर सकता है। किन्तु यह अच्छी तरह समझ लो कि एक या दो गाँवों का जो उपकार हुआ है, वह अनाथालय जिसमें बीस-पचीस अनाथ ही हैं तथा वे ही दस-बीस कार्यकर्ता नितान्त पर्याप्त हैं और यही वह केन्द्र बनाता है, जो कभी नष्ट होनेवाला नहीं है। यहाँ लाखों मनुष्यों को समय पर लाभ पहुँचेगा। अभी हमको आधे दर्जन सिंह चाहिए, उसके बाद सैकड़ों गीदड़ भी उत्तम काम कर सकेंगे।

यदि अनाथ बालिकाएँ तुम्हारे आश्रय में किसी प्रकार आ जायँ, तो तुम उन्हें सबसे पहले ले लेना। नहीं तो ईसाई मिशनरी उन बेचारियों को ले जायँगे। यदि तुम्हारे पास उनके लिए विशेष प्रबन्ध नहीं है, तो इसकी क्या चिन्ता? जगज्जननी की इच्छा से उनका प्रबन्ध हो जायगा। घोड़ा मिलने पर चाबुक अपने आप आ जायगा। अभी लड़कों और लड़कियों को एक साथ ही रखो। एक नौकरानी रख लो, वह लड़कियों की देखभाल करेगी; वह उन्हें अलग अपने पास सुलायेगी। अभी तुम्हें जो मिले, उसे ले लो, चुनाव-छँटाव मत करना। बाद में सब कुछ अपने आप ठीक हो जायेगा। प्रत्येक उद्योग में विघ्नों का सामना करना पड़ता है, परन्तु धीरे धीरे मार्ग सुगम हो जाता है।

अंग्रेज कर्मचारी को मेरी ओर से बहुत बहुत धन्यवाद का सन्देश देना। निर्भय होकर काम करो — कैसे वीर हो ! शाबास ! शाबास !! शाबास !!!

भागलपुर में केन्द्र खोलने के लिए जो तुमने लिखा है, वह विचार — विद्यार्थियों को शिक्षा देना इत्यादि — निस्सन्देह बहुत अच्छा है, परन्तु हमारा संघ दीन-हीन, दरिद्र, निरक्षर किसान तथा श्रमिक समाज के लिए है और उनके लिए सब कुछ करने के बाद जब समय बचेगा, केवल तब कुलीनों की बारी आयेगी। प्रेम के द्वारा तुम उन किसान और श्रमिक लोगों को जीत सकोगे। इसके पश्चात वे स्वयं थोड़ा-सा धन संग्रह करके गाँव में ऐसे ही संघ बनायेंगे, और धीरे धीरे उन्हीं लोगों में शिक्षक पैदा हो जायँगे। कुछ ग्रामीण लड़के-लड़कियों को विद्या के आरम्भिक सिद्धान्त सिखा दो और बहुत-से विचार उनकी बुद्धि में बैठा दो। इसके बाद प्रत्येक ग्राम के किसान रुपया जमा करके अपने अपने ग्रामों में

एक एक संघ स्थापित करेंगे। **उद्धरेदात्मनात्मानम्** – अपनी आत्मा का अपने उद्योग से उद्धार करो। यह सब परिस्थितियों में लागू होता है। हम उनकी सहायता इसीलिए करते हैं, ताकि वे स्वयं अपनी सहायता कर सकें। वे तुम्हें प्रतिदिन का भोजन प्राप्त करा देते हैं, यही इस बात का द्योतक है कि कुछ यथार्थ कार्य हुआ है। जिस क्षण उन्हें अपनी अवस्था का ज्ञान हो जायगा और वे सहायता तथा उन्नति की आवश्यकता को समझेंगे, तब जानना कि तुम्हारा प्रभाव पड़ रहा है एवं तुम ठीक रास्ते पर हो। धनवान श्रेणी के लोग दया से प्रेरित होकर गरीबों की जो थोड़ी-सी भलाई करते हैं, वह स्थायी नहीं होती और अन्त में दोनों पक्षों को हानि पहुँचाती है। किसान और श्रमिक समाज मरणासन्न अवस्था में हैं, इसलिए जिस चीज की आवश्यकता है, वह यह है कि धनवान उन्हें अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करने में सहायता दें और कुछ नहीं। फिर किसानों और मजदूरों को अपनी समस्याओं का सामना और समाधान स्वयं करने दो। परन्तु तुम्हें सावधान रहना चाहिए कि गरीब किसान-मजदूर और धनवानों के बीच कहीं परस्पर जाति-विरोध का बीज न पड़ जाय। यह ध्यान रहे कि धनिकों के प्रति दुर्वचन न कहो – **स्वकार्यमुद्धरेत्प्राज्ञः** – ज्ञानी मनुष्य को अपना कार्य अपने उद्योग से करना चाहिए।

गुरु की जय हो ! जगज्जननी की जय हो ! भय क्या है ! अवसर, औषधि तथा इनका उपयोग स्वयं ही आ उपस्थित होंगे। मैं परिणाम की चिन्ता नहीं करता, चाहे अच्छा हो या बुरा। इतना काम यदि तुम करोगे, तो मुझे हर्ष होगा। वाद-प्रतिवाद, मूल-पाठ, शास्त्र, साम्प्रदायिक मत-मतान्तर - इनसे मैं अपनी इस बढ़ती हुई उम्र में विष की तरह द्वेष करता हूँ। यह निश्चित रूप से जान कि जो काम करेगा, वह मेरे सिर की मुकुटमणि होगा। व्यर्थ शब्दों का विवाद और शोर मचाने में हमारा समय नष्ट हो रहा है और हमारी जीवनशक्ति क्षीण हो रही है तथा मनुष्य जाति के कल्याण के लिए एक पग भी हम आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। माभैः – डरो मत ! शाबास ! निश्चय तुम वीर हो ! श्री गुरु तुम्हारे हृदय-सिंहासन पर स्थित रहें और जगज्जननी तुम्हें मार्गप्रदर्शन करें। इति।

विवेकानन्द

कर्मयोग का तात्पर्य

कर्मयोग का अर्थ क्या है? उसका अर्थ है - मौत के मुख में जाकर भी बिना तर्क-बितर्क किये सबकी सहायता करना। भले ही तुम लाखों बार ठगे जाओ, परन्तु मुख से एक बात तक न निकालो; और जो तुम भले कार्य कर रहे हो, उनके सम्बन्ध में सोचो तक नहीं।

– स्वामी विवेकानन्द

मर्यादा की मूर्ति - श्रीराम

स्वामी आत्मानन्द

श्रीराम मर्यादा की मूर्ति हैं – इसलिए नहीं कि वे प्रचलित मर्यादाओं का पालन करते हैं, बल्कि इसलिए कि वे नयी मर्यादाएँ स्थापित करते हैं। ऊपरी तौर से देखने पर ऐसा लगता है कि वे प्रचलित मर्यादाओं के अनुसार आचरण नहीं कर रहे हैं, पर यह उनके चरित्र की विशेषता है कि वे मर्यादाओं में परिवर्तन ऐसी पद्धति से करते हैं कि पुरातन मर्यादावादी को यह नहीं लगता कि मर्यादा टूट गयी। पुरातन और नवीन को वे इस तरह मिलाते हैं कि यह पता नहीं चलता कि पुरातन कब नवीन हो गया। मैं उन्हें इसी दृष्टि से मर्यादा पुरुषोत्तम मानता हूँ। उन्होंने त्याग की जो मर्यादा स्थापित की, वह दुनिया के इतिहास में बेजोड़ है। इस सन्दर्भ में हम दो उदाहरणों के द्वारा अपने उपर्युक्त कथन की पुष्टि करना चाहेंगे।

सर्वप्रथम हम अयोध्या की परम्परा का ही उदाहरण लेते हैं। यह रघुवंश और राजवंश की परम्परा थी कि ज्येष्ठ पुत्र को राज्य मिलना चाहिए। जब गुरु वसिष्ठ ने उनसे कहा कि कल तुम्हें युवराज-पद मिलनेवाला है, तो सामान्यतः उन्हें प्रसन्न होना चाहिए था कि प्रचलित मर्यादा का पालन हो रहा है। परन्तु वे प्रसन्न नहीं होते। वे उदास होकर सोचते हैं कि सूर्यवंश में अनेकों सुन्दर नियम हैं, पर यदि कोई नियम निन्दनीय है, तो यही कि –

जनमें एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई।।
करनबंध उपबीत बिआहा। संग संग सब भये उछाहा।।
बिमल बंस यदु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।। २/१०/५-७

– हम सभी भाई एक साथ ही जन्मे; खाना-पीना, खेलकूद, कनछेदन, विवाह आदि सब आनन्दपूर्वक साथ साथ हुए; परन्तु इस निर्मल वंश में यही एक दोष है और वह यह कि बाकी सभी भाइयों को छोड़कर केवल एक का ही राज्याभिषेक होता है।

भले ही सूर्यवंश की परम्परा है कि ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दिया जाता है, पर यह परम्परा अनुचित है। श्रीराम तर्क करते हैं कि जिस सूर्य ने आज तक प्रकाश देने में बड़े-छोटे का कोई भेद नहीं किया, उसी सूर्यवंश में छोटे भाई को छोड़कर बड़े को राज्य देना मानो सूर्य के आदर्श को ही नष्ट करना हुआ। वे विचार करते हैं कि यदि सूर्य की परम्परा का पालन किया जाए, तो राज्य मुझे नहीं, बल्कि भरत को मिलना चाहिए।

श्रीराम की यह भावना ही रामराज्य का मूल आधार है। उनकी यह भावना कितनी उदार है! यदि कोई उनसे पूछे कि महाराज, छोटा भाई राजा हो जाय और बड़ा भाई राजसिंहासन पर न बैठे, तो कैसा लगेगा? तो वे कहेंगे – "यही तो आनन्द है। मैं सबसे बड़ा भाई हूँ ही और भरत राज्य पाकर बड़ा हो जायेगा। इस प्रकार हम दोनों ही बड़े हो जाएँगे। पर यदि मैं सिंहासन पर बैठ जाऊँ, तो मैं और बड़ा हो गया तथा भरत और भी छोटा। यह किस काम की बात हुई ? किया तो यह जाना चाहिए कि दोनों बड़े हो जाएँ।"

यदि कोई पूछे कि श्रीभरत को राज्य देने से वे बड़े कैसे होंगे, तो वे उत्तर में कहेंगे – "देखो यदि आज राज्य मुझे मिल जाय, तो मैं अपना परिचय दूँगा कि अयोध्या का राजा हूँ, पर यदि भरत को राज्य मिल जाय और मुझसे कोई पूछे कि आप कौन हैं, तो कहूँगा कि अयोध्या के राजा का बड़ा भाई हूँ और इस प्रकार मेरी पदोन्नति हो जाएगी।"

यह सोचने की एक नयी और क्रान्तिकारी विधा है, जो हमें श्रीराम से प्राप्त होती है। आज जहाँ मनुष्य सत्ता की होड़ में उचित-अनुचित का विचार छोड़ आपा-धापी में पड़ा है, श्रीराम द्वारा स्थापित त्याग की यह नवीन मर्यादा उसके उद्वेलन और अशान्ति को न्यून करने में सहायक हो सकती है।

दूसरे उदाहरण के रूप में हम वह प्रसंग लेते हैं, जब श्रीराम अपनी प्रजा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं –

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई ॥ ७/४३/५

– मेरा वही सेवक मुझे सबसे अधिक प्रिय है, जो मेरी आज्ञा का पालन करता है।

आप कह सकते हैं कि यह तो एक साधारण-सा सत्य है, इसमें तो कोई विलक्षणता नहीं दिखाई देती। पर जब आप श्रीराम का अगला वचन सुनते हैं, तो विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। वह कौन-सी आज्ञा है श्रीराम की, जिसका पालन वे अपनी प्रजा से चाहते हैं?

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ॥ ७/४३/६

– यदि मैं कुछ अनीति की बात कहूँ, तो तुम लोग भय भुलाकर, बेखटके मुझे रोक देना।

ऐसी मर्यादा श्रीराम ही रख सकते थे। प्रजातंत्र का ऐसा उदाहरण दूसरा नहीं मिलेगा।

आज जब हम अनुशासनहीनता की डोर में जकड़े अपने इस देश को अनुशासन और मर्यादा का पाठ पढ़ाना चाहते हैं और उसे नयी दिशा एवं गति देना चाहते हैं, तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के पावन जीवन का चिन्तन और अनुशीलन हमें आलोक-रश्मि प्रदान करेगा, जिससे हमारा अन्धकार से भरा पथ ज्योतित हो उठेगा। ◘

वेदान्त की व्यापकता

वेदान्त वह विशाल सागर है, जिसके वक्ष पर युद्धपोत और साधारण बेड़ा दोनों पास पास रह सकते हैं। वेदान्त में यथार्थ योगी, मूर्तिपूजक, नास्तिक – इन सभी के लिए पास पास रहने को स्थान है। इतना ही नहीं, वेदान्त-सागर में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या पारसी – सभी एक हैं – सभी उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की सन्तान हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(उनहत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – स.)

वर्तमान प्रसंग श्रीचैतन्यदेव से सम्बन्धित है। उनकी तीन अवस्थाएँ हुआ करती थीं – बाह्य, अर्धबाह्य और अन्तर्दशा। बाह्यदशा में उन्हें जगत का प्रत्यक्ष अनुभव होता था। अर्धबाह्य दशा में वे अन्त:करण में रस का आस्वादन करते और अन्तर्दशा में मन के महाकारण में लीन हो जाने से उन्हें समाधि हो जाती थी। श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं, "वेदान्त के पंचकोष के साथ इसका काफी साम्य है।" पंचकोष अर्थात आत्मा के पाँच आवरण। इन्हीं पाँच आवरणों के माध्यम से शक्ति विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। इनमें से स्थूल शरीर पहला आवरण है। ठाकुर कहते हैं, "स्थूल-शरीर अर्थात अन्नमय तथा प्राणमय कोष और सूक्ष्म-शरीर अर्थात मनोमय तथा विज्ञानमय कोष।" इस सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव हैं – पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि। आगे वे आनन्दमय कोष को कारण-शरीर बताते हैं। शास्त्र में आनन्दमय कोष के सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि वही आनन्दसत्ता है और एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि वह भी एक कोष है अर्थात आच्छादन है। उसके पीछे और भी एक तत्त्व है, जो वाक्य-मन से अगोचर है, उसी को इस सन्दर्भ में महाकारण कहा गया है।

हठयोग, राजयोग तथा भक्तियोग

किसी भक्त के यह पूछने पर कि हठयोग कैसा होता है? ठाकुर कहते हैं, "हठयोग में शरीर की ओर मन ज्यादा देना पड़ता है।" उनके मतानुसार ये सब अलौकिक शक्ति प्राप्त करने के लिए उपयोगी हैं, अणिमादि अष्टसिद्धि प्राप्त करने के उपाय हैं। किन्तु वे हमेशा कहते कि इन समस्त शक्तियों के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति बिल्कुल नहीं होती, मन भी शुद्ध नहीं होता। वे भक्तों को सर्वदा सावधान करते हुए इन सबसे दूर रहने को कहा करते।

उन्होंने दृष्टान्त दिया – "तमाशा दिखाते हुए किसी ने तालु के अन्दर जीभ घुसेड़ ली थी। बस, उसका शरीर स्थिर हो गया। लोगों ने सोचा, यह मर गया। कालान्तर में वह कब्र धँस गयी। तब एकाएक उसे चेत हुआ। चेतना के होते ही वह चिल्ला उठा – यह देखो कलाबाजी! यह देखो गिरहबाजी! यह सब साँस की करामात है।" सर्प तथा मेंढक की तरह कोई बहुत दिनों तक मिट्टी के नीचे जीवित रह सकता है, किन्तु उसके द्वारा अगर असल वस्तु की ओर, भगवान की ओर मन न जाय, तो फिर उस निरर्थक दीर्घ जीवन पाने का क्या फल हुआ? वेदान्ती लोग हठयोग नहीं मानते, राजयोग मानते हैं। राजयोग अर्थात

मन को भगवान की ओर प्रेरित करना, मन का संयमन-नियमन आदि । इस राजयोग के द्वारा जो किया जाता है भक्ति और विचार के द्वारा भी वही कार्य होता है ।

हठयोग के द्वारा शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करने पर मन क्रमश: ईश्वर से दूर चला जाता हैं । इसीलिए ठाकुर कहते हैं कि भक्ति ही सार है और हर प्रकार से सहज है । इसी मार्ग का दृढ़ भाव से अवलम्बन करना अच्छा है । वैसे विचार-पथ और राजयोग की बात भी बाद में कही गयी है, किन्तु वे सब रास्ते कठिन हैं, जन-साधारण के लिए भक्तियोग ही उपयोगी है । कलिकाल में प्राण अन्नगत है, इसलिए भक्तियोग ही अच्छा है ।

ठाकुर के सान्निध्य में मास्टर महाशय को व्याकुलता की प्राप्ति

इस परिच्छेद में ठाकुर की बातें बहुत अधिक नहीं हैं, श्रोता भी केवल मास्टर महाशय स्वयं हैं । मास्टर महाशय पिछले दो वर्षों से ठाकुर के पास आना-जाना कर रहे हैं । मन में प्रबल वैराग्य, भगवान को देखने की व्याकुलता जागी है । इसीलिए पंचवटी के चबूतरे पर बैठकर जप-ध्यान कर रहे हैं । उसी समय ठाकुर वहाँ आकर कहते हैं, "क्यों जी, यहाँ बैठे हुए हो ! तुम्हारा काम जल्दी होगा । कुछ ही दिन करने से कोई कहेगा – 'यह, यह करो'।" अर्थात थोड़ा जप-ध्यान करने पर, साधन-पथ में थोड़ा आगे बढ़ने पर आगे का मार्ग कोई-न-कोई बता देता है । वस्तुत: यदि कोई अगर आन्तरिक भाव से प्रयास करे, तो रास्ता बतानेवालों का कोई अभाव नहीं होता, क्योंकि वे ही गुरु रूप में सबके भीतर बैठे हैं और समस्त प्रश्नों का समाधान भी वे ही करते हैं ।

इसके बाद कहते हैं, "तुम्हारा समय हो आया है । जब तक अण्डों के फोड़ने का समय नहीं होता, तब तक चिड़िया अण्डे नहीं फोड़ती । जो घर तुम्हें बतलाया गया है, वही तुम्हारे लिए ठीक है ।" यहाँ घर से क्या तात्पर्य है? जिस प्रकार का भाव लेकर उन्हें साधना करनी है, वही भाव उनका घर है ।

तपस्या कितने दिनों तक करनी पड़ेगी – इस प्रसंग में श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "यह नहीं कि सभी को तपस्या अधिक करनी पड़े, परन्तु मुझे तो बड़ा ही कष्ट उठाना पड़ा था ।" ठाकुर को इतनी कृच्छ साधना क्यों करनी पड़ी थी? इसलिए कि अवतार दृष्टान्त दिखाने के लिए आते हैं । वे सभी को ऐसा दृष्टान्त दिखा जाते हैं कि जिसका आंशिक अनुष्ठान करने पर भी साधक का जीवन सार्थक हो सकता है ।

इसके बाद मास्टर महाशय अपने स्वयं के सम्बन्ध में लिखते हैं कि उन्होंने कॉलेज में अध्ययन किया है, विवाह भी किया है । पहले वे केशव के समान बड़े बड़े विद्वानों के व्याख्यान सुना करते थे, परन्तु अब श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आकर केवल उन्हीं की बातें सुननी अच्छी लगती हैं । ठाकुर ने कहा है, "साधना करने से मनुष्य ईश्वर को देख सकता है । ईश्वरदर्शन ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है ।" हम लोग निरुद्देश्य भाव से जीवन-यापन करते हैं । केवल खाना-पहनना, वंशवृद्धि इसी में जीवन समाप्त हो जाता है, मानो और कोई उद्देश्य ही न हो । परन्तु यह तो पशु-जीवन की तरह है । मनुष्य में बुद्धि है, विचार है, लेकिन उसका उपयोग हम किस प्रकार कर रहे हैं? सम्भव है कि कोई पढ़ाई में अच्छा निकला या फिर किसी व्यवसाय में सफल हो गया और उसके बाद विवाह करके सुख-दुख में दिन निकाल दिये । परन्तु उसे ऐसा नहीं लगता कि इसे छोड़कर जीवन का कोई और

भी उद्देश्य हो सकता है। पाश्चात्य देशों में जीवन का ठीक ठीक किसी उद्देश्य का निर्धारण न हो पाने के कारण अनेक धनी घरों के लड़के हिप्पी हो जाते हैं। जो कुछ भी प्रयास चल रहा है, वह केवल वर्तमान दुख को टालने के लिए है। इसी प्रकार निरुद्देश्य पथ पर चलते चलते चरम व्यर्थता का भाव मनुष्य को पूर्णत: अभिभूत कर लेता है। इसीलिए ठाकुर ने कहा कि भगवान को पाना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। एक उद्देश्य को दृढ़ भाव से पकड़े रहना होगा, लक्ष्यहीन होने पर भटकते हुए मरने के अलावा और कोई गति नहीं।

ठीक ऐसी ही एक बात हमने स्वामी तुरीयानन्दजी से सुनी है। वे कहते, "देखो! ब्राह्मण का शरीर केवल तपस्या के लिए है।" वे 'तपस्या' शब्द पर खूब जोर देते थे। केवल ब्राह्मण के घर जन्म लेने से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। ब्राह्मणत्व का गुण, ब्राह्मण की पदवी पर प्रतिष्ठित करने हेतु साधना में उपयोगी शरीर को ही ब्राह्मण शरीर कहते हैं। भगवत्प्राप्ति के लिए साधना ही इस ब्राह्मण शरीर का उद्देश्य है। इसके उपरान्त वे मास्टर महाशय को एकादशी-व्रत करने का निर्देश देते हैं। इससे कहीं हम यह न समझ बैठें कि ठाकुर हम सभी को एकादशी करने को कह रहे हैं। उनके खास खास उपदेश खास खास व्यक्तियों के लिए निर्धारित हैं। उनका यह आदेश सबके लिए बाध्यतामूलक नहीं है।

श्रीरामकृष्ण अपने चिह्नित भक्तों के प्रसंग में कहते हैं कि उन्होंने इन भक्तों को प्रत्यक्ष रूप में देखने के पूर्व ही भाव नेत्रों से उनको तथा उनके परिवेश तक को देखा है। फिर कहते हैं, "मैंने श्रीगौरांग के सांगोपांगों को देखा था।" कहना न होगा कि उनके चर्मचक्षु भी कोई साधारण नेत्र नहीं थे। उनकी यह दृष्टि मायिक नहीं, बल्कि मायातीत है। फिर कहते हैं, "पहले ऐसी अवस्था थी कि सादी दृष्टि से सब दर्शन होते थे! अब भाव में होते हैं।" इसका कारण यह है कि उन्हें सबको साथ लेकर, मन को ढँककर चलना होगा। हमेशा मन को ऊँचे सुर में बाँधे रहने पर जगत के समस्त लोगों से सम्पर्क रखना उनके लिए सम्भव न होता। इसलिए उन्होंने स्वयं अपनी दृष्टि को मानो नीचे उतार रखी है। उन्होंने यह भी कहा कि चैतन्यदेव के अन्तरंगों में उन्होंने मास्टर महाशय को देखा था।

भक्त के लिए भगवान की व्याकुलता

शुद्ध भक्तों के लिए श्रीरामकृष्ण किस प्रकार रोते थे, इस प्रसंग में ठाकुर कहते हैं – "माँ से रो-रोकर कहता था – माँ, भक्तों के लिए मेरा जी निकल रहा है, उन्हें शीघ्र मेरे पास ला दे।" भक्तों के लिए अपनी व्याकुलता की बात उन्होंने विभिन्न स्थानों पर विविध प्रकार से कही है। वस्तुत: उनका विशुद्ध मन संसार के कलुष के भीतर अधिक देर टिका नहीं रह सकता था। संसार की ओर मन को उतारे रखने के लिए इन सब शुद्धसत्त्व भक्तों की बड़ी आवश्यकता थी। ये उनके अपने अन्तरंग थे, अपने जन थे। इनके साथ वे आनन्दविहार करते थे। चैतन्यदेव के जीवन में भी अन्तिम दिनों में उनका मन इतना भावुक हो गया था कि उस समय अन्य भाव के लोगों को उनके पास जाने तक नहीं दिया जाता था, उनके पास आने पर उन्हें कष्ट होता था। इसीलिए भक्तगण सदा उनको घेरे रहते थे, ताकि वे उनके साथ परम तत्त्व का आस्वादन करते रह सकें।

भक्त का बोझ भगवान ढोते हैं

ठाकुर अपने जीवन के बीते दिनों की घटनाओं का वर्णन करते हुए कहते हैं, "पंचवटी में मैंने जप-ध्यान करने के लिए तुलसी-कानन बनाया था। बड़ी इच्छा हुई कि चारों ओर

से बाँस की कमानियों का घेरा लगा दूँ । इसके बाद ही देखा – ज्वार में बहकर कुछ कमानियाँ का गट्ठा और कुछ रस्सी ठीक पंचवटी के सामने आकर लग गयी है ।'' ठाकुर पूरी तौर से माँ पर निर्भरशील थे, इसीलिए उन्होंने जब जो सोचा, वही हो गया । यह बात भी उन्होंने अनेक स्थानों पर कही है कि मथुर बाबू को उन्होंने अपने रसददार के रूप में पाया था । मथुर बाबू ने मन-प्राण लगाकर ठाकुर की सेवा की । उन्होंने ठाकुर के लिए सोने की थाली-कटोरियाँ बनवा दी थीं । सोचकर ही विस्मित रह जाना पड़ता है कि जो त्यागियों के बादशाह थे, धातु के स्पर्शमात्र से ही जिनके शरीर में कभी पीड़ा हुआ करती थी, उन्होंने भी कभी सोने के पात्रों का उपयोग किया था । यह सब भाव का ही खेल है । ठाकुर जब जिस भाव में भी रहे, तब उस भाव का चरम आदर्श दिखा दिया है । जब स्त्रीभाव में थे तब सोलहो आने स्त्रीभाव में ही रहे । उसमें किसी भी प्रकार की कृत्रिमता नहीं थी । फिर जब वे किसी अन्य भाव में रहते, तब स्त्रियों से दूरी बनाए रहते और दूसरों को भी स्त्रियों से दूर रहने का निर्देश देते थे । यह निर्देश उन्होंने स्त्री-जाति से घृणा करने के निमित्त नहीं, अपितु साधन-पथ में पुरुष को सावधान करने के लिए दिया है । इतना ही नहीं, इसका एक दूसरा पक्ष भी है । वे स्त्रियों को भी पुरुषों से सावधान कर देते थे । एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि जितने पुरुष हैं, उन्हें राम समझना और जितनी स्त्रियाँ हैं, उन्हें सीता । श्रीमाँ भी अपनी सन्तानों से कहतीं कि वे लोग थोड़ी दूरी बनाए रखें, क्योंकि (उनका स्वयं का भी) स्त्री शरीर है न, इसीलिए । यह अवज्ञा नहीं है, साधना की एक आवश्यकता है ।

ठाकुर के साधना-स्थल का माहात्म्य

मास्टर महाशय ब्राह्मसमाज के भावों से अनुप्राणित थे । उनका मन टटोलने के लिए श्रीरामकृष्ण कहते हैं, ''देखो, एक दिन मैंने कालीमन्दिर से पंचवटी तक एक अद्‌भुत मूर्ति देखी! इस पर तुम्हारा विश्वास होता है?'' मास्टर महाशय को इसके पहले तो विश्वास नहीं था, परन्तु अब वे ठाकुर के सम्पर्क में आकर सोचते हैं – जब इतना सब देख रहा हूँ, तो फिर विश्वास किये बिना भला कैसे रहा जा सकता है? परन्तु यह बात उन्होंने कही नहीं, मौन रहे । पंचवटी की शाखा से दो-चार पत्ते तोड़कर उन्होंने अपनी जेब में रख लिया । श्रीरामकृष्ण कहते हैं, ''यह डाल गिर गयी है, देखते हो? मैं इसके नीचे बैठता था ।'' लीलाप्रसंग में लिखा है – इस आसन पर बैठने के योग्य दूसरा कोई नहीं है, सम्भवत: इसीलिए इस कारण उस डाल ने टूटकर उस आसन को ढँक लिया था । यही जगह महातीर्थ होगी – मास्टर महाशय के ऐसा कहने पर ठाकुर हँसते हुए बोले, ''किस तरह का तीर्थ? क्या पानीहाटी जैसा?'' ठाकुर स्वयं पानीहाटी जाकर कीर्तनानन्द करते थे ।

शास्त्रों का सार-ग्रहण

इसके बाद 'भक्तमाल' ग्रन्थ का पाठ हो रहा है । उसमें भक्ति की बड़ी सुन्दर कथाएँ है । परन्तु उसमें केवल कृष्णभक्ति की बातें हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, बल्कि अन्य मतों की निन्दा भी की गयी है । हम लोगों ने जब अपने बचपन में 'चैतन्य-चरितामृत' पढ़ना आरम्भ किया, तो एक स्थान पर देखा – ''गंगा दुर्गा दासी मोर, शंकर किंकर ।'' पढ़कर ऐसी नाराजगी हुई कि पुस्तक को बन्द करके मैंने सोचा कि अब इसे कभी नहीं पढ़ूँगा । बाद में ठाकुर के भाव से परिचित होने पर मैं उस ग्रन्थ का तात्पर्य समझने में थोड़ा सक्षम हुआ । धर्मग्रन्थों में साम्प्रदायिक कट्टरता होने पर भी, उनका घुमाकर अन्य प्रकार से

अर्थ लगा लेना पड़ता है । कट्टरता की बात को छोड़कर केवल भाव को ग्रहण कर लेना चाहिए । ठाकुर ने केशवसेन के कहा था कि राधा-कृष्ण को भले ही न मानो, पर उस आकर्षण को तो अपना लो । असल बात यह है कि किस उपाय से उनके लिए मन-प्राण व्याकुल हों, जिससे अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित हो जाय – इसी भाव को ग्रहण करना चाहिए । बस, यहीं कर पाने से जीवन सार्थक हो उठेगा । ठाकुर एकांगी भाव पसन्द नहीं करते थे, बल्कि उसकी कट्टरता को छोड़कर उसके भाव की प्रशंसा करते थे । इसी प्रकार बाइबिल के प्रसंग में वे कहते हैं – उसमें भगवद्-भक्ति की बातें अच्छी हैं, परन्तु उसमें बड़ा 'पाप पाप' कहा गया है । जो बात उन्हें पसन्द नहीं आती, उसे वे स्पष्ट रूप से कह देते हैं और जो बातें भक्ति-भाव की पोषक होतीं, उनकी वे प्रशंसा भी करते हैं । इसी कारण वे कहते हैं कि चाहे जो भी धर्म या जो भी परिवेश क्यों न हों, उससे यदि हमारे भाव की परिपुष्टि होती है, तो फिर हम क्यों न उसके प्रति अपनी श्रद्धा निवेदित करेंगे! श्रीरामकृष्ण हम सभी से ऐसी ही उदार दृष्टि की अपेक्षा रखते हैं ।

मास्टर महाशय को पथ प्रदर्शन

अगले परिच्छेद में भी मास्टर महाशय उनके अपने मन में श्रीरामकृष्ण-विषयक जो विचार उठ रहे हैं, उन्हीं का संक्षेप में वर्णन करते हैं । वे दक्षिणेश्वर में ही ठाकुर के सान्निध्य में निवास कर रहे हैं, इसी कारण उनका मन इस समय अत्यन्त वैराग्यपूर्ण हो गया है । वे जगत के सम्बन्ध में विचार करते हैं – "इस जगत का स्वामी कौन है और मैं उनका कौन हूँ, यह न जानने पर जीवन ही व्यर्थ है ।" पृथ्वी पर जन्म लेकर केवल जीवन-यापन करना – क्या इतना ही यथेष्ट है? क्या करने से हमारे जीवन की सार्थकता सिद्ध होगी? – यही प्रश्न उनके मन को उद्वेलित कर रहा है ।

वे पुनः उन्हीं के बारे में सोचते हैं – "श्रीरामकृष्ण पुरुषश्रेष्ठ हैं ।" तब भी वे उन्हें ईश्वरावतार के रूप में नहीं समझ पा रहे हैं, परन्तु इतना तो भलीभाँति समझ में आ रहा है कि ये एक असाधारण भगवत्प्रेमी हैं । □(क्रमशः)□

बल और आत्मविश्वास

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात शरीर तथा मन में दृढ़ता न रहने से कोई भी इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता । पहले पुष्टिकर उत्तम भोजन से शरीर को बलिष्ठ करना होगा, तभी तो मन का बल बढ़ेगा । मन तो शरीर का ही सूक्ष्म अंश है । मन और शब्दों में खूब दृढ़ता लाओ । 'मैं हीन हूँ, मैं दीन हूँ' – ऐसा कहते कहते मनुष्य वैसा ही हो जाता है । इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है – **मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि । किंवदन्तीति सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्** – 'मैं मुक्त हूँ' – ऐसा अभिमान रखनेवाला मुक्त और 'मैं बद्ध हूँ' – ऐसा अभिमान रखनेवाला बद्ध हो जाता है । (अष्टावक्र-संहिता) 'जैसी मति वैसी गति' – यह कहावत बिल्कुल सत्य है ।

– स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (३३/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके तैंतीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में गरुड़जी ने कागभुशुण्डिजी से कहा –

मानस रोग कहहु समुझाई। ७/१२१/७

– "मानस रोगों के विषय में समझाकर कहिए।" इसके उत्तर में कागभुशुण्डिजी ने मानस रोगों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। रामायण में मन के रोगों का जो निदान और उसकी चिकित्सा पद्धति प्रस्तुत की गई है उसमें एक क्रम है तथा उसी क्रम में पिछले प्रवचन में ईर्ष्या पर चर्चा चल रही थी। इसके आगे कागभुशुण्डिजी गरुड़जी से कहते हैं –

हरष विषाद गरह बहुताई। ७/१२१/३३

हर्ष और विषाद मन का एक ऐसा रोग है, जिसकी तुलना गोस्वामीजी मानव-शरीर में होनेवाले एक गले के रोग से करते हैं, जिसे कण्ठमाला अथवा घेंघा कहते हैं। यह हर्ष और विषाद मानो मन का कण्ठमाला रोग है।

रामायण में जब यह कहा गया है कि हर्ष अर्थात प्रसन्नता भी मन का एक रोग है, तो साधारण दृष्टि से यह बात विचित्र-सी लगती है। व्यक्ति इसे तो स्वीकार कर लेता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि रोग हैं, लेकिन मन में होनेवाला हर्ष, प्रसन्नता, खुशी भी रोग है, यह बात साधारण व्यक्ति को समझ में नहीं आती। बहुत हुआ तो व्यक्ति विषाद, दुख-शोक को रोग के रूप में स्वीकार कर सकता है, किन्तु हर्ष और प्रसन्नता को? व्यक्ति तो प्रसन्नता की कामना करता है। वह हर्ष और प्रसन्नता चाहता है, उसके प्रति उनके मन में आकर्षण है। मनुष्य विषाद या दुख नही चाहता, लेकिन प्रसन्नता तो चाहता ही है। काकभुशुण्डि जी कहते हैं कि केवल विषाद ही नहीं हर्ष भी रोग है। सचमुच अगर गहराई से विचार करके देखें, तो यह जीवन का एक महान सत्य है। वैसे तो व्यक्ति हर्ष को अपना मित्र और विषाद को शत्रु मानता है, परन्तु ये हर्ष तथा विषाद की वृत्तियाँ परस्पर एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। व्यक्ति भले ही हर्ष का स्वागत करना चाहता हो, विषाद को दूर भगा देना चाहता हो, परन्तु यह सम्भव नहीं है। एक को चाहने पर, स्वीकार करने पर दूसरे को स्वीकार करना ही पड़ता है।

हम जीवन में प्रसन्नता को स्वीकार करें और दु:ख को स्वीकार न करें, यह सम्भव ही नहीं है। हर्ष और विषाद के सन्दर्भ में रामायण के जो पात्र हैं, उनके चरित्र के माध्यम से हर्ष और विषाद की बड़ी विस्तृत व्याख्या की गई है। भगवान श्रीराम के चरित्र में हर्ष और

विषाद का स्वरूप देखें। एक प्रसंग में कहा गया कि भगवान श्रीराम के चरित्र में न तो हर्ष है और न ही विषाद। जिस समय महाराज दशरथ ने श्रीराम को राज्य देने का संकल्प किया और गुरुदेव तथा प्रजा के समक्ष अपने संकल्प की घोषणा कर दी, उस समय देवताओं ने उनके संकल्प में विघ्न डालने के लिए सरस्वती को निमन्त्रित किया। देवताओं की इस योजना को सुनकर सरस्वती आश्चर्यचकित हो गईं। उन्हें लगा कि क्या अब देवताओं का यही कार्य रह गया है कि वे रामराज्य के संकल्प में बाधा डालें। इनके कहने से यदि मैं रामराज्य में बाधा डालूँगी, तो भगवान मुझे न जाने कितना कठोर दण्ड देंगे? तब देवताओं ने भगवान राम के स्वभाव का स्मरण दिलाते हुए विश्वास दिलाया कि आप डरिए मत, चिन्ता की कोई बात नहीं है, क्योंकि –

बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥ २/१२/३

– तुम तो भगवान राम के स्वभाव को जानती हो – उनमें न तो विस्मय है, न हर्ष।

एक ओर तो भगवान राम हर्ष और विस्मय से शून्य हैं और दूसरी ओर अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जहाँ दिखाई देता है कि उनमें हर्ष और विषाद – दोनों हैं। हर्ष का प्रसंग तो उनके जीवन में बारम्बार आता है। महर्षि विश्वामित्र के साथ भगवान श्रीराघवेन्द्र उनके आश्रम की ओर जा रहे हैं। वहाँ पर गोस्वामीजी उस प्रसंग का प्रारम्भ ही हर्ष से करते हैं। उनका पहला वाक्य यही है –

पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन॥ १/२०८ (ख)

यहाँ पर भगवान राम में हर्ष का उल्लेख है। इसके पश्चात जब आगे चलकर वे महर्षि विश्वामित्र के साथ जनकपुर की ओर प्रस्थान करते हैं, तब गोस्वामीजी ने फिर से इसी शब्द का प्रयोग किया –

धनुषजग्य सुनि रघुकुल गाथा। हरषि चले मुनिवर के साथा॥ १/२१०/१०

– भगवान राम बड़े प्रसन्नचित्त से हर्षित होकर विश्वामित्र के साथ चले। यहाँ तक कि भगवान जब जनकपुर के निकट पहुँचते हैं, तो फिर इसी शब्द को दुहराया गया है –

हरषि चले मुनि बृन्द सहाया। बेगि बिदेह नगर निअराया॥ १/२१२/४

विदेहनगर के निकट आते ही भगवान हर्षित हो गये। इस प्रकार से इन प्रसंगों में भगवान राम में हर्ष दिखाई देता है। अन्यत्र उनमें विषाद भी दिखाई देता है। जनकनन्दिनी श्रीसीता के वियोग में जब वे विलाप करते हुए चारों ओर घूमते हैं तब वहाँ पर गोस्वामीजी इसी शब्द का प्रयोग करते हैं –

बिरही इव प्रभु करत बिषादा। ३/३७/२

इस प्रकार से कुछ प्रसंग ऐसे हैं, जिसमें यह बताया गया है कि भगवान श्रीराम के चरित्र में न तो हर्ष है न विषाद और कुछ प्रसंग ऐसे हैं जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि उनके चरित्र में हर्ष भी है और विषाद भी। जिन प्रसंगों में भगवान श्रीराम में हर्ष और विषाद का अभाव है, उनमें से एक तो है धनुषयज्ञ का प्रसंग और दूसरा वनगमन का।

धनुषयज्ञ के प्रसंग में भगवान राम में हर्ष और विषाद के अभाव का वर्णन किया गया है। यद्यपि यह बड़ा अटपटा सा प्रतीत होता है। विश्वामित्र के साथ चलते हुए हर्ष, जनकपुर की ओर प्रस्थान करते हुए हर्ष, जनकपुर में प्रविष्ट होते हुए हर्ष, और जब हर्ष की पराकाष्ठा का क्षण आया, धनुर्भंग का क्षण आया, जानकीजी को पाने का क्षण आया, जगद्विजेता की ख्याति पाने का क्षण आया, तब अचानक गोस्वामीजी बात बदल देते हैं। वहाँ पर वे लिख सकते थे कि विश्वामित्रजी ने जब धनुष तोड़ने के लिए कहा, तब भगवान हर्षित होकर गुरुदेव की आज्ञापालन करने के लिए धनुष की ओर बढ़े। किन्तु वे लिखते हैं कि गोस्वामीजी ने जब भगवान राम से कहा –

उठहु राम भंजहु भवचापू। मेटहु तात जनक परितापू॥ १/२५४/६

और उसके बाद कहते हैं –

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥ १/२५४/७

भगवान राम जब धनुष की ओर चले तो उनके मन में न तो हर्ष था और न विषाद ही। वैसे तो यह विशेष रूप से सर्वोत्कृष्ट हर्ष का प्रसग है। व्यावहारिक दृष्टि से भी इसे सबसे अधिक प्रसन्नता का विषय माना जा सकता है। परन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान श्रीराम के मन में उस समय कोई हर्ष नहीं था।

इसी प्रकार विषाद के सन्दर्भ में सर्वाधिक दुखद प्रसंग है भगवान श्रीराम के वनगमन का। वनगमन के समय भी गोस्वामीजी जब भगवान राम के मुखश्री की वन्दना करते हैं, तो देवताओं ने जो बात कही थी, उसी का समर्थन करते हुए कहते हैं –

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुखतः।
मुखाम्बुज श्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा।। २/२

– राज्याभिषेक का संवाद सुनकर जिनके मुख पर प्रसन्नता की रेखा परिलक्षित नहीं हुई और राज्य छिन जाने पर भी जिस पर रंचमात्र विषाद का उदय नहीं हुआ, ऐसी एकरस रहनेवाली भगवान श्रीराघवेन्द्र की मुखश्री हमारे अन्तःकरण में मंगल का संचार करे।

इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी भगवान श्रीराम में हर्ष और विषाद का अभाव दिखलाते हैं। व्यक्ति साधारणतया ऐसे अवसरों पर प्रसन्न और दुखी दिखाई देता है, लेकिन भगवान श्रीराघवेन्द्र इन अवसरों पर न तो प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं और न ही विषादयुक्त। लेकिन ऐसे भी अनेक प्रसंग हैं जहाँ पर वे हर्षित भी दिखाई दे रहे हैं और विषादयुक्त भी। साधारण दृष्टि से देखने पर भगवान राम के चरित्र में यह एक विचित्र-सा विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु इसके पीछे जो तात्पर्य है उसे मैं थोड़ा स्पष्ट करना चाहूँगा।

एक ओर तो भगवान श्रीराम स्वयं ईश्वर हैं और दूसरी ओर मनुष्य के रूप में अवतरित होकर नरलीला कर रहे हैं। वे अपनी इस लीला में एक मनुष्य के समान अपूर्णता का अभिनय करते हैं, परन्तु बीच बीच में वे अपना ईश्वरत्व भी प्रकट कर देते हैं। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी और विचित्र-सी प्रतीत होती हैं। इसीलिए अवतार के आचरण को समझने में बड़ी कठिनाई होती है। आज भी अवतारवाद को लेकर अनेक लोगों के मन में

संशयात्मके प्रश्न उठते रहते हैं और जिनके मन में अवतारवाद के प्रति श्रद्धा नहीं है, उन्हें वे नासमझ या नास्तिक मानते हैं। लेकिन अवतारवाद का सिद्धान्त इतना जटिल है कि आप चाहे रामायण पढ़ें या श्रीमद्भागवत, इस अवतारवाद को लेकर साधारण व्यक्तियों में संशय बना रहे तो इसमें तो कोई आश्चर्य ही नहीं है।

जिन लोगों के अन्तःकरण में ईश्वर के अवतार को लेकर सन्देह उत्पन्न हो जाता है, उनमें यदि केवल मर्त्यलोक के व्यक्ति होते तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, परन्तु भागवत में तो कहा गया है कि भगवान श्रीकृष्ण ने जब गोवर्धन-पूजा का प्रस्ताव रखा, तो इन्द्र रुष्ट हो गये। गोकुल में इन्द्रपूजा की परम्परा थी। पूजा का समय जब निकट आया, तैयारियाँ होने लगीं तो भगवान श्रीकृष्ण ने नन्दबाबा से पूछा – "आप इन्द्र की पूजा क्यों करते हैं?" उन्होंने कहा, "इन्द्र की कृपा से वर्षा होती है, वर्षा से हमें अन्न और हमारे पशुओं को चारा मिलता है।" तब भगवान श्रीकृष्ण ने एक अनोखा प्रस्ताव रखा और बड़ी अनोखी भूमिका सम्पन्न की। उन्होंने कहा, "जो गोवर्धन हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं, जिनसे हमें सब कुछ मिलता है, उन प्रत्यक्ष देवता को छोड़कर न जाने किस स्वर्ग में रहनेवाले इन्द्र, जिन्हें हमने कभी देखा भी नहीं, केवल मान लिया कि वे वर्षा करते हैं, उनकी पूजा करने से वे वर्षा करेंगे। क्या उसकी पूजा न करने से वर्षा नहीं होगी? इस भ्रम को छोड़कर हमें गोवर्धन की पूजा करनी चाहिए। वस्तुतः ये ही हमारे पूज्य हैं।"

नन्दबाबा और गोकुल के अन्य ग्वालों को श्रीकृष्ण का यह प्रस्ताव अच्छा लगा और वे इन्द्र को छोड़कर गोवर्धन की पूजा करने लगे। इस पर इन्द्र कुपित हो गये और मेघों को आदेश दे दिया कि घोर वर्षा करके गोकुल को डुबो दिया जाए, उसे नष्ट कर दिया जाए। क्या इन्द्र नहीं जानते थे कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान के अवतार हैं? भलीभाँति जानते थे। देवताओं के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर ही तो भगवान ने अवतार लिया था। उन प्रार्थना करनेवाले देवताओं में इन्द्र भी एक थे। लेकिन अब क्या हो गया? अवतार की लीला देखकर वे भ्रमित हो गये। यह भ्रम क्यों होता है?

इसका सूत्र यह है कि ईश्वर के अवतार में दो प्रकार की भूमिकाएँ होती हैं – एक मानवीय और दूसरी ईश्वरीय। अवतार के जीवन में अगर केवल मानवीय आचरण हो, केवल मनुष्य के समान उनका जीवन हो, केवल नरलीला हो, तब तो हम उन्हें केवल मनुष्य के रूप में देखेंगे, उसी दृष्टि से उनकी समीक्षा करेंगे और यदि उनमें केवल ईश्वरत्व हो, तो उनकी पूजा करेंगे। परन्तु अवतार के जीवन में यह एक बड़ी जटिल समस्या है कि उसमें दोनों प्रकार की लीलाएँ जुड़ी हुई होती हैं। कभी तो वह अपने ईश्वरत्व को छिपाकर नरलीला करता है और कभी अपने ईश्वरत्व को भी प्रकट कर देता है।

जब व्यक्ति उनमें ईश्वरत्व देखता है, तब उसके अन्तःकरण में आस्था उत्पन्न होती है और जब वे अपने ईश्वरत्व को छिपाकर नरलीला करते हैं, तब मनुष्य भ्रमित तथा संशयालु हो जाता है। यही सूत्र है। उनके चरित्र के इन विरोधाभासों में निहित तात्पर्य को समझने के लिए इस सूत्र को ध्यान में रखना होगा।

यहाँ एक ओर तो कहा गया कि भगवान राम में हर्ष-विषाद का सर्वथा अभाव है और दूसरी ओर गोस्वामीजी विविध प्रसंगों में उनके हर्ष और विषाद का उल्लेख करते हैं। कथा रामायण की हो या श्रीमद्भागवत की – सूत्र वही है। इन्द्र की तो बात ही छोड़िये, वे तो भोग और शृंगाररस में आसक्त हैं, परन्तु ब्रह्मा तो बुद्धि के देवता हैं। वे स्वयं अवतारवाद के प्रवर्तक, प्रसाधक और प्रचारक हैं। वे ब्रह्मा भी जब स्वयं देखते हैं कि श्रीकृष्ण ग्वाल-बालों का जूठा छीनकर खा रहे हैं, तो भ्रमित हो जाते हैं कि ये सचमुच ही ईश्वर हैं या कोई साधारण ग्वाल-बाल हैं। तब जैसे इन्द्र ने वर्षा के माध्यम से उनकी परीक्षा ली थी, उसी प्रकार ब्रह्माजी ने भी श्रीकृष्ण के सखा ग्वाल-बालों तथा उनके बछड़ों को चुराकर परीक्षा ली। परीक्षा में जब श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व प्रकट हुआ, तब इन्द्र और ब्रह्मा के अन्तःकरण की श्रद्धा लौटी, अन्यथा उनमें संशय बना ही रहता।

यही कथा 'रामचरितमानस' में भी है। भगवान राम के अवतार में जिन लोगों को सन्देह हुआ, वे कोई साधारण लोग नहीं हैं! सतीजी स्वयं भगवान शंकर की पत्नी हैं। शंकरजी रामकथा के सबसे बड़े व्याख्याता हैं। लेकिन सती के अन्तःकरण में इतना संशय है कि भगवान शंकर के कहने पर भी उनका समाधान नहीं हुआ। इससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात तो यह है कि गरुड़जी तो साक्षात् विष्णु के वाहन हैं और श्रीराम स्वयं भगवान के अवतार हैं। अब अन्य किसी को भ्रम हो तो हो, परन्तु निरन्तर भगवान को धारण करनेवाले गरुड़जी के मन में तो संशय उत्पन्न नहीं होना चाहिए था। लेकिन हो गया। बस यही सूत्र – भगवान जब नरलीला करते हैं ...। यह लीला शब्द बड़ा ही जटिल है, इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है। इसका सामंजस्य क्या है? वास्तव में तत्त्वतः भगवान में न तो हर्ष है और न विषाद, परन्तु जब वे लीला करते हैं, तो उनके चरित्र में हर्ष भी दिखाई देता है और विषाद भी। तात्पर्य यह है कि लीला का हर्ष-विषाद वास्तव में न तो हर्ष है न विषाद। जैसे एक अभिनेता रंगमंच पर अभिनय करता है, नाटक में एक व्यक्ति राजा बना हुआ है और अचानक रंगमंच पर आकर कोई सूचना देता है, "महाराज, आपकी रानी को पुत्र हुआ है।" तो आप देखेंगे कि उसके मुखमण्डल पर प्रसन्नता की लहर खेल उठती है। सुनकर वह आनन्द से दान करने लगता है। इसी प्रकार रंगमंच पर कोई दुखद घटना होती है और उस घटना से अभिनेता विषाद व्यक्त करता हुआ दिखाई देता है। लेकिन वास्तव में उस अभिनेता के अन्तःकरण में न तो कोई हर्ष होता है और न विषाद। वह तो उसका शुद्ध अभिनय या लौकिक भावाभिव्यक्ति मात्र है, जो उपदेशमूलक होती है। इस नरनाट्य का अभिप्राय क्या है? एक ओर तो मनुष्य का जीवन और उसकी समस्याएँ हैं और दूसरी ओर ईश्वर समस्याओं से सर्वथा मुक्त हैं, परन्तु अवतार की लीला वह समन्वय-सेतु है जहाँ दोनों का सामंजस्य है। अवतार एक ओर तो मनुष्य की भाँति समस्याओं से ग्रस्त दिखाई देता है और दूसरी ओर वह समस्याओं से सर्वथा मुक्त ईश्वर हैं। ईश्वर की नरलीला का अभिप्राय यही है कि जो समाधान न तो केवल मनुष्य-जीवन से मिल सकता है और न ही उसमें ईश्वरत्व-दर्शन से वह पूरा ही होता है, वह अवतार के माध्यम से ही पूरा होता है।

अवतार के बिना न तो ईश्वर को समझ पाना सरल है और न जगत को। अवतार न हो तो सीखने समझने और अनुकरण करने के लिए कुछ नहीं मिलेगा, मार्ग नहीं मिलेगा, दिशा नहीं मिलेगी। इसलिए रामचरितमानस में संकेतसूत्र के रूप में कहा गया है कि ईश्वर अवतरित होकर एक ओर तो भक्तों की रक्षा करके अपने ईश्वरत्व का, शक्ति और ऐश्वर्य का परिचय देते हैं और दूसरी ओर एक मनुष्य की तरह आचरण करके मनुष्य के सामने एक आदर्श, एक मार्ग प्रशस्त करते हैं, ससार-सागर पर एक सेतु का निर्माण करते हैं। इसके लिए गोस्वामीजी ने बड़े सुन्दर शब्द चुने हैं –

सुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानुकुल सेतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥ २/८७

– "शुद्ध सच्चिदानन्द-कन्द-रूप सूर्यकुल के ध्वजारूप भगवान श्रीराम मनुष्यों के समान ऐसे आचरण करते हैं, जो संसाररूपी समुद्र के पार उतरने के लिए पुल के समान हैं।" इस पंक्ति में उन्होंने दोनों बातों का सामंजस्य किया है। गोस्वामीजी का अभिप्राय है कि भगवान के चरित्र में यह जो हर्ष और विषाद की अभिव्यक्ति है, वह वास्तव में उनकी नरलीला है, अभिनय है, किन्तु प्रभु के अन्तःकरण में न तो हर्ष है न विषाद।

कभी कभी तो गोस्वामीजी ऐसी विरोधी बातें लिख देते हैं जो बड़ी चौंकानेवाली होती हैं। एक बार भगवान श्रीराघवेन्द्र सीताजी के वियोग में चारों ओर घूम रहे थे, लता वृक्षों से सीताजी का पता पूछ रहे थे, अन्त में थककर वे एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। नारदजी ने देखा कि भगवान आँसू बहाते हुए सीताजी को खोज रहे हैं। वे व्याकुल हो गये। उनके मन में एक पीड़ा यह भी थी कि उन्हीं के ही शाप से प्रभु को इतना कष्ट हो रहा है। यह तो प्रभु की उदारता है कि वे मेरे उस शाप को सत्य करने के लिए इतना बड़ा दुख सह रहे हैं –

मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥ ३/४१/६

परन्तु अगला वाक्य तो बड़ा सुन्दर लिखा है। नारदजी ने सोचा कि चलकर हम प्रभु से क्षमा माँग लें। वे भगवान के पास गए, लेकिन देखते क्या हैं? जो दृश्य उन्होंने देखा वह तो चौंका देनेवाला था। वे देखते हैं –

बैठे परम प्रसन्न कृपाला। ३/४१/४

इसका अर्थ क्या है? जैसे नाटक में दो व्यक्ति एक दूसरे के विरुद्ध लड़ें। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को शाप दे या चोट पहुँचा दे और नाटक भूलकर पश्चाताप करने लगे कि मैंने इसे चोट पहुँचा दी, परदा गिरने पर क्षमा माँगने लगे कि मुझे क्षमा कर दो। लेकिन जिससे वह क्षमा माँग रहा है वह तो परदे के पीछे बैठा हँस रहा है। वह तो यही कहता है कि वह तो नाट्यमंच पर अभिनय मात्र था। तुमने कष्ट देने का अभिनय किया और मैंने कष्ट पाने का। तुम्हारे सहयोग से ही तो हमारा प्रदर्शन सफल हुआ है। भगवान विरही हैं, यह लीला सत्य है, उनकी विलाप-लीला सत्य है। वस्तुतः भगवान में न तो रंचमात्र हर्ष है और न विषाद। इसलिए रामायण में इन दोनों प्रसंगों में वही सूत्र दिया गया है। धनुर्भंग और श्रीसीताजी को पाने के प्रसंग में भगवान राम के मुखमण्डल पर हर्ष क्यों नहीं दिखाई देता? धनुर्भंग भगवान

की नरलीला नहीं है, वहाँ तो उनके ईश्वरत्व का दर्शन होता है। भगवान मनुष्य के रूप में अवतार ग्रहण कर मनुष्य के ही समान आचरण करते हैं, किन्तु बीच बीच में कुछ ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं, जो मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर होती हैं। उन्हें केवल ईश्वर ही सम्पन्न कर सकते हैं। ऐसे कार्य जब अवतार के माध्यम से होते हैं, तब वहाँ पर उसका ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। धनुर्भंग की घटना एक ऐसा ही प्रसंग है। वहाँ पर यह प्रसंग इसलिए उपस्थित हुआ कि जनकजी मूलतः वेदान्ती हैं। उनकी आस्था सगुण-साकार पर नहीं, बल्कि निर्गुण-निराकार पर है। भगवान उनके सामने साकार तत्त्व को प्रकट कर उनके अन्तर में निहित ज्ञान के साथ भक्ति का संचार करना चाहते हैं। इसलिए यह अनोखी लीला भगवान इस रूप में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ पर भगवान अपने ईश्वरत्व का परिचय न दें, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि जनक के अन्तःकरण में श्रीराम के प्रति आकर्षण होगा भी तो एक व्यक्ति के रूप में होगा, ईश्वर के रूप में नहीं।

जनकजी की कसौटी क्या है? जो शंकर के धनुष को तोड़ दे, वही सीताजी को प्राप्त करने का अधिकारी है। ऐसी स्थिति में भगवान राम प्रसन्न होकर क्यों नहीं उठे? इसका तात्पर्य यह है कि जनकजी के वेदान्त की दृष्टि से ईश्वर में न तो हर्ष है न विषाद। भगवान जिस समय उनकी कसौटी पर अपने ईश्वरत्व को प्रकट करते हैं, उस समय वे ठीक वेदान्त के ईश्वर की भूमिका में हर्ष और विषाद से रहित हैं। दूसरा प्रसंग श्रीसीताजी की प्राप्ति का है। अगर कोई भगवान से पूछे कि इतनी बड़ी प्रसन्नता के अवसर पर, जब श्रीसीताजी को वे पाने जा रहे हैं, उनके मन में प्रसन्नता क्यों नहीं हो रही है? इसके उत्तर में भगवान राम यही कहेंगे कि यदि पाना होता तब तो प्रसन्नता न होती। जो नित्य मिली हुई है, मुझसे सदा अभिन्न है, उसे पाने की बात तो सर्वथा दूसरों की प्रतीति मात्र है। दूसरों को लग रहा है कि सीताजी मुझसे अलग हैं, दूर हैं, धनुष तोड़ने पर मैं उन्हें पा जाऊँगा। सीताजी के हरण के प्रसंग में भी एक ओर तो भगवान श्रीराम श्रीसीताजी के वियोग में विलाप कर रहे हैं और दूसरी ओर वे स्वय उन्हें छिपाए हुए हैं। वस्तुतः श्रीसीताजी का हरण तो हुआ ही नहीं है।

व्यक्ति को हर्ष क्यों होता है? जब हम अपने अभीष्ट को पाते हैं तो हर्ष होता है और खोते हैं तो विषाद। परन्तु प्रिय वस्तु पाने के बाद समस्या क्या है? संसार में जितनी भी प्रिय वस्तुएँ हैं, उनमें से कोई भी नित्य नहीं है। सब खिसक जानेवाली हैं। इसी को संसार कहते हैं। संसार अर्थात संसरणम् – जो सरक रहा है, जिसे पकड़े न रखा जा सके, वही संसार है। जब किसी वस्तु को पाकर हमें प्रसन्नता होती है, तो साथ-ही-साथ यह भी इच्छा होती है कि यह वस्तु सदा हमारे पास ही रहे। हमें धन की इच्छा हो और हम धन पा लें, तो हमारी यह भी इच्छा होती है कि धन सदा हमारे पास रहे। यौवन सदा एकरस बना रहे, पद बना रहे। जिन जिन वस्तुओं को पाकर व्यक्ति प्रसन्न होता है, वे सारी वस्तुएँ ऐसी हैं, जो एक-न-एक दिन खिसक जाएँगी। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से जब व्यक्ति हर्ष को स्वीकार करता है, तभी विषाद की भूमिका भी बन जाती है। जिस वस्तु को पाकर हम प्रसन्न होते हैं, उसका खो जाना तो अनिवार्य है और खो जाने पर दुख होना ही है। इसलिए

हर्ष के बाद विषाद एक अनिवार्य क्रम है। ये दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, अभिन्न हैं। किन्तु भगवान राम के जीवन में यह जो हर्ष-विषाद है, इसमें संकेत क्या है? धनुषयज्ञ में दिखाई दे रहा है कि भगवान राम ने पाया और दण्कारण्य में दिखाई दे रहा है कि उन्होंने खोया। यह जो भगवान राम का पाना और खोना है, इसे यदि हम मनुष्य के सन्दर्भ में देखें, तो इसकी व्याख्या बदल जाएगी। परन्तु ईश्वर के अवतार का जो मूल तत्त्व है, उसे दृष्टि में रखकर विचार करें, तो उसका अभिप्राय यह है कि न तो सीताजी उन्हें मिलीं और न खोईं; क्योंकि सीताजी और श्रीराम कोई दो व्यक्ति तो है नहीं। वे तो एक हैं –

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥ १/१८

– जो वाणी तथा उसके अर्थ के समान और जल तथा उसकी तरंग के समान कहने में तो अलग अलग हैं, परन्तु वस्तुतः भिन्न नहीं हैं, वैसे ही अभिन्न श्री सीता-राम के उन पदकमलों की मैं वन्दना करता हूँ, जिन्हें दीन-दुखी परम प्रिय हैं।

अब जो वस्तु नित्य तथा नित्य संयुक्त है, वह तो कभी खो ही नहीं सकती। तब भला उसमें पाने का हर्ष और खोने का विषाद कहाँ? भगवान राम ने वन जाते समय जानकीजी से कहा कि वे अयोध्या में रहें और वे स्वयं वन चले जाएँगे। सीताजी ने कहा, "यदि ऐसा सम्भव हो तो अवश्य मुझे छोड़कर चले जाइये।" प्रभु बोले, "सम्भव क्यों नहीं है?" जानकीजी ने भगवान राम से अपने तात्त्विक सम्बन्ध की ओर संकेत करते हुए कहा –

प्रभु जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई॥ २/९७/६

– जैसे सूर्य अपनी प्रभा से अथवा चन्द्रमा अपनी चन्द्रिका से अगर यह कहे कि वह उससे अलग होजाए, तो क्या यह सम्भव है? क्या सूर्य को छोड़कर उसकी प्रभा अथवा चन्द्रमा को छोड़कर चन्द्रिका की अपनी अलग कोई सत्ता है? श्रीसीताजी भगवान से कहती हैं कि इसी प्रकार वे भी प्रभु से अभिन्न हैं। उन दोनों का अलग अस्तित्व सम्भव नहीं है। अतः यहाँ न तो पाना है और न ही खोना है –

पाना खोना कुछ नहीं ज्यों का त्यों भरपूर।

☐ (क्रमशः) ☐

भारत की देन

अनदेखे और अनसुने गिरनेवाला कोमल ओसकण जिस प्रकार परम सुन्दर गुलाब की कलियों को खिला देता है, वैसा ही असर भारत के अवदान का संसार की विचारधारा पर पड़ता है। भारत के इस दान ने सम्पूर्ण विश्व की विचारराशि में क्रान्ति मचा दी है – एक नया ही युग खड़ा कर दिया है; परन्तु तो भी कोई नहीं जानता कि ऐसा कब हुआ।

– ***स्वामी विवेकानन्द***

शंकराचार्य-चरित (५)

स्वामी प्रेमेशानन्द

(लगभग बारह शताब्दियों पूर्व जब बौद्धधर्म की अवनति होने लगी थी और भारतवर्ष विभिन्न प्रकार के अनाचारों से परिपूर्ण हो गया, तभी श्रीमत् शंकराचार्य ने आविर्भूत होकर सनातन वैदिक धर्म में नव-प्राणों का संचार किया। इस नवजागरण के फलस्वरूप ही हिन्दूधर्म पुनः सबल होकर भावी आक्रमणों को झेलने में सक्षम हो सका। आज जो सनातन हिन्दूधर्म जीवित है तथा फल-फूल रहा है, इसका बहुत-कुछ श्रेय उन्हीं को जाता है। जो लोग समयाभाव या किसी अन्य कारण से श्री शंकराचार्य की विस्तृत जीवनी पढ़ने में अक्षम हैं, उनके लिए रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी स्वामी प्रेमेशानन्द ने बँगला में एक संक्षिप्त जीवनी लिखी थी, जिसका धारावाहिक अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। - स.)

अध्याय छठवाँ

पद्मपाद का तीर्थभ्रमण

श्रृंगेरी मठ में जब संन्यासीगण साधना व स्वाध्याय में उन्मत्त हो रहे थे, तभी पद्मपाद के मन में निरालम्ब निराश्रय परिव्राजक के रूप में विभिन्न तीर्थों का पर्यटन करने की इच्छा बलवती हो उठी। आचार्यदेव पहले तो सहमत नहीं हुए, परन्तु शिष्य का प्रबल आग्रह देखकर अन्ततः राजी हो गये। पद्मपाद गुरु से विदा लेकर चल पड़े। उत्तर भारत के तीर्थों का दर्शन करते हुए रामेश्वर जाने के मार्ग में वे श्रीरंगम पहुँचे। वहाँ उनके मामा का घर था। दो-एक दिन विश्राम करने के निमित्त वे मामा के घर में अतिथि हुए।

भ्रमण के दौरान भी पद्मपाद ने शास्त्रचर्चा का बिल्कुल परित्याग नहीं किया था। दो-एक ग्रन्थ वे सदा अपने साथ रखते थे। अद्वैत वेदान्त पर उनका स्वरचित एक ग्रन्थ भी उनके पास था। उनके मामा ने वह ग्रन्थ पढ़ा। वे कुमारिल भट्ट के मतावलम्बी प्रभाकर के शिष्य थे। भान्जे के ग्रन्थ में अपने सम्प्रदाय के मत का पूर्णरूपेण खण्डन देखकर वे ईर्ष्या से जल उठे, परन्तु अपना मनोभाव गुप्त रखते हुए उन्होंने उस ग्रन्थ की खूब प्रशंसा की।

साम्प्रदायिकता मनुष्य का धर्म तो नष्ट करती ही है, साथ ही कभी कभी उसे पशु से भी अधम कर डालती है। अपने मत के विरोधी ग्रन्थ का अस्तित्व-बोध मामा के हृदय में शूल के समान विद्ध हो गया। उनके मन में आया कि इस ग्रन्थ को नष्ट किये बिना मानो उनका जीवन ही व्यर्थ हो जाएगा। शीघ्र ही एक उपयुक्त मौका भी आ पहुँचा। पद्मपाद ने निश्चय किया था कि वे रामेश्वर-दर्शन करके पुनः श्रीरंगम लौटेंगे और वहाँ से जाकर गुरुदेव के साथ हो लेंगे। मामा बोले, "इन पुस्तकों को साथ ढोने से क्या लाभ? यहीं रखकर जा सकते हो।" पद्मपाद ने मामा का प्रस्ताव मान लिया। मामा अब स्वमतविरोधी ग्रन्थ को पाकर बड़े प्रसन्न हुए। पद्मपाद के चले जाने पर अब वे उस ग्रन्थ को नष्ट करने का उपाय सोचने लगे। लोगों की आँख में उन्हें धूल झोंकनी होगी, विशेषकर तेजस्वी तपस्वी भान्जे को कुछ कहकर बहलाना होगा। ऐसे ही तरह तरह से विचार करने के बाद उन्होंने ईर्ष्या

की ज्वाला से अपने घर में ही आग लगा दी। घर से आग की लपटें उठने पर, दिखावटी शोक के साथ चीत्कार करते हुए सहायता के लिए वे ग्रामवासियों को बुलाने लगे।

पद्मपाद के रामेश्वर्-दर्शन करके लौट आने पर, मामा उनके समक्ष ग्रन्थ के लिए बड़ा शोक व्यक्त करने लगे। पद्मपाद ने कहा, "उसके लिए आप इतना शोक न करें। मैं अनायास ही पुन: उसकी रचना कर लूँगा।" यह सुनकर मामा बड़े ही भयभीत हुए। हाय! जिस शत्रु का संहार करने के लिए उन्होंने अपने घर में आग लगा दी, उसका मूल तो बचा ही रह गया। अब उस जड़ को भी उखाड़ डालने के निमित्त मामा ने पद्मपाद के भोजन में एक तरह का विष मिला दिया। इसके फलस्वरूप उनका मस्तिष्क इतना दुर्बल हो गया कि उनमें पुस्तक लिखने की क्षमता नहीं रही। गुरु के उपदेश पर ध्यान दिये बिना अपनी बुद्धि का अनुसरण करने का फल देखकर पद्मपाद बड़े ही लज्जित और मर्माहत हुए।

वे निस्तेज और अतीव दुखी होकर केरल प्रदेश में गुरु के पास जा पहुँचे। त्रिकालज्ञ आचार्यदेव शिष्य की इस दुर्दशा पर बड़े ही व्यथित हुए। पद्मपाद ने एक बार अपना ग्रन्थ पढ़कर गुरुदेव को सुनाया था। श्रुतिधर आचार्य को वह पूरा-का-पूरा कण्ठस्थ था। पद्मपाद को यह ज्ञात होने पर उन्होंने आनन्दपूर्वक गुरुदेव से पुन: सुनकर वह ग्रन्थ लिख डाला।

शंकर की अद्भुत स्मरणशक्ति के विषय में और भी एक कथा है। केरल के राजा ने तीन नाटकों की रचना की थी। शंकर के संन्यासी होने के पूर्व राजा ने ग्रन्थ पढ़कर उन्हें सुनाये थे। काफी काल बाद राजा के साथ पुन: साक्षात्कार होने पर शंकर को पता चला कि वे नाटक नष्ट हो चुके। उन्हें वह पूर्ण रूप से कण्ठस्थ था। कहते हैं कि राजा ने उनसे वे नाटक पुन: लिखवा लिये थे।

अद्वैत सत्य

सेतुबन्ध रामेश्वर के निकट मध्यार्जुन नामक स्थान में एक प्रसिद्ध शिव मन्दिर था। शंकर ने शिष्यों के साथ वहाँ जाकर मन्दिर-प्रांगण में अपना आसन लगाया और वेदान्त के सार रूप में अद्वैत की व्याख्या करने लगे। उस अंचल के पण्डित, ज्ञानी, अशिक्षित सभी उनका उपदेश सुनने लगे। उनके पाण्डित्य, वाग्मिता तथा अपूर्व मुखश्री को देखकर सभी श्रद्धान्वित, आनन्दित तथा मोहित हुए।

बाल्यकाल से ही मनुष्य जिस प्रकार के चिन्तन का अभ्यास करता है, वयस्क हो जाने पर उसमें परिवर्तन लाना बड़ा कठिन हो जाता है और अधिकांश लोग इसमें सफल नहीं होते। विशेषकर साधारण व्यक्ति के लिये तो स्वयं को सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड-व्यापी चैतन्य सत्ता सोचने में बड़ा भय लगता है। उसे यह नितान्त असम्भव-सा प्रतीत होता है और वह सोचता है कि इतने सुखद इस क्षुद्र 'मैं' को छोड़ देने से तो सब चला जाएगा। यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तब तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द – सबका लोप हो जाएगा और उसके बाद मैं क्या लेकर रहूँगा – यही सोचकर मनुष्य चतुर्दिक अन्धकार देखने लगता है।

शंकर ने युक्ति तथा शास्त्र का समर्थन दिखाकर सबकी बुद्धि को अद्वैत की ओर मोड़ दिया। तथापि अनेकों के मन में सन्देह दोलायमान होता रहा। परन्तु बोलना तो दूर, इन ज्वलन्त अनल के समान तेजस्वी युवा संन्यासी के समक्ष जोर से श्वास छोड़ने तक में भय लगता था। आखिरकार एक वृद्ध ब्राह्मण साहसपूर्वक उठ खड़े हुए और कहने लगे, "हे

महात्मन्, हम आपकी असाधारण विद्या-बुद्धि तथा वाग्मिता पर मुग्ध हो गये हैं। परन्तु विद्या-बुद्धि एवं वाग्मिता के द्वारा धर्म का निर्णय नहीं होता। जिसमें बुद्धि अधिक है, वह सभी विषयों पर अपने मत के अनुरूप युक्तियाँ दे सकता है; यहाँ तक कि साधारण लोगों के समक्ष युक्ति बल से सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य प्रमाणित कर देने की क्षमता भी किसी किसी में दीख पड़ती है। यदि आपसे भी बुद्धिमान आज यहाँ कोई उपस्थित होता तो सम्भव है वह आपका मत खण्डन कर देता। अत: आपकी बातों से हमारे हृदय का सन्देह पूर्ण रूप से दूर नहीं हो रहा है। आप महायोगी हैं, सिद्ध पुरुष हैं; भगवान अवश्य ही आपकी बातें सुनते हैं। यदि इस मन्दिर में स्थित भवानीपति आपकी प्रार्थना पर हमारे सामने साक्षात प्रकट होकर अपने मुख से आपके मत की सत्यता स्वीकार करें, तो हमारा सारा सन्देह दूर हो जाएगा।"

सभा में उपस्थित सभी लोग ब्राह्मण की बुद्धिमत्ता पर चकित होकर उनका समर्थन करने लगे और शंकर इसका क्या उत्तर देते हैं यह सुनने के लिए उत्सुक होकर उनके मुख की ओर ताकते रहे। शंकर बोले, "मैं विश्वनाथ की इच्छा से ही इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। आप लोगों को अद्वैतपथ पर चलाना यदि उन्हें अभिप्रेत हुआ, तो वे अवश्य ही मेरे वाक्य का समर्थन करेंगे।"

यह कहकर वे मन-ही-मन श्लोकों की रचना करके अपने मधुर कण्ठ से स्तोत्र-पाठ करने लगे। उनकी कवित्वमय भाषा में रचित भक्तिपूर्ण स्तुति से मन्दिर प्रतिध्वनित हो उठा और उस स्थान पर एक ऐसा गम्भीर वातावरण बना कि वहाँ उपस्थित सभी सिहर उठे, मन एक अज्ञात भावोच्छ्वास से परिपूर्ण हो उठा। सबकी दृष्टियाँ मूर्ति पर निबद्ध थीं, तीव्र आग्रह से मन एकाग्र थे। एक असम्भव घटना देखने के लिए वे सभी उत्कण्ठित हो उठे। सहसा मन्दिर को आलोकित करते हुए श्वेतवर्ण द्विभुज त्रिशूलधारी व्याघ्रचर्म-परिहित पिंगल जटायुक्त त्रिलोचन शिव आविर्भूत हुए। देखते-ही-देखते मानो स्वर्गराज्य का द्वार खुल गया, क्षण भर के लिए मानो सबके ज्ञाननेत्र उन्मीलित हो गये, सभी का हृदय विमल आनन्द से परिपूर्ण हो उठा, उस प्रेममय मूर्ति के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु का अस्तित्व है या नहीं – यह बात लोगों के मन में उदित भी नहीं हुई। महेश्वर अपना दाहिना हाथ उठाकर मधुर गम्भीर वाणी में बोले, "अद्वैत सत्य है, अद्वैत सत्य है," और अन्तर्धान हो गये। सभी समाधिस्थ के समान स्तम्भित हो गये। फिर क्षण भर बाद वे जयध्वनि करने लगे। तदुपरान्त जलप्रवाह के समान जनप्रवाह आकर शंकर के चरणों में पड़ गया।

क्रकच-दमन

दक्षिण भारत में बौद्धों का प्रभाव अधिक न था, तथापि वेदपाठ तथा वैदिक धर्माचार का ह्रास हो जाने से उपासकों ने तरह तरह के अद्भुत मत और आचार अपना लिये थे। बौद्ध संघ में धर्म का क्षय हो जाने पर दल बढ़ाने के झोंक में लोग विभिन्न प्रकार के विकट साज-पोशाकों का उपयोग करने लगे। इन साज-सज्जाओं ने ही धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया था। आम जनता चिर काल से पोशाक के वैचित्र्य को ही धर्म का प्रधान अंग मानती रही है। शंकर अपने शिष्यों को साथ लिए इस पोशाकी धर्म में प्राणसंचार करते हुए भ्रमण करने लगे।

वामाचारी कापालिक आदि बकधर्मी पुरुष-नारी मिलकर मद्य-मांस खा-पीकर आमोद करना ही धर्म मानते थे। अन्य किसी किसी सम्प्रदाय में थोड़ी-बहुत सद्भावना होने पर भी वे लोग आमोद-प्रमोद को ही सब कुछ समझते थे। इनके दलाधिपतिगण सिद्धाई की प्राप्ति के लिए उत्कट तपस्या करते और अपने दल के स्वार्थ-साधनार्थ हेतु बुरे उपायों का आश्रय लेने में भी आगा-पीछा नहीं सोचते थे। इन लोगों का दमन करने में शंकर को बड़ा श्रम करना पड़ा, क्योंकि अशिक्षित जनसमुदाय को प्रलोभन के द्वारा अपने दल में भर्ती करके ये लोग बड़े प्रभावशाली हो उठे थे।

विदर्भ प्रान्त के अधिकांश लोग उन दिनों भैरव-उपासक थे। शंकर के प्रचार के फलस्वरूप वहाँ के राजा तथा सम्भ्रान्त वर्ग ने वेदान्त को अपना लिया। इससे उन्हें प्रचार में बड़ी सुविधा मिली। पद्मपाद आदि संन्यासीगण ने सम्पूर्ण राज्य का भ्रमण करते हुए अल्प काल में ही सबको वैदिक मतावलम्बी बना दिया।

कर्णाट राज्य कापालिकों का प्रधान केन्द्र था। उनके दलपति क्रकच के पास तरह तरह की सिद्धियाँ थीं और उनका दल ऐसा प्रबल था कि वह देश के राजा तक की परवाह नहीं करता था। कर्णाट के राजा सुधन्वा पहले बौद्ध धर्म का परित्याग कर कुमारिल के अनुगामी हुए थे और अब शंकर की महिमा सुनने के बाद उन्होंने धर्म-पिपासा से व्याकुल होकर उन्हीं का शिष्यत्व स्वीकार किया। विदर्भ-विजय के बाद शंकर की कर्णाट राज्य जाने की इच्छा थी। विदर्भनरेश को जब पता चला तो वे अपने गुरुदेव को मना करते हुए बोले कि उस राज्य में क्रकच का बड़ा प्रभाव है; वह आपके निरीह संन्यसी-दल का बड़ा अनिष्ट कर सकता है; फिर आचार्यदेव जैसे भोले-भाले हैं, अत: उग्रभैरव के समान ही कोई असत् व्यक्ति पुन: उनके अनिष्ट का प्रयास कर सकता हैं। कर्णाट के राजा अपने गुरुदेव की इच्छा जानकर बड़े आग्रहपूर्वक उन्हें अपने राज्य में ले गये तथा अपनी सेना के साथ उनकी अंगरक्षा में लगे रहे।

आचार्यदेव के आगमन का संवाद पाकर क्रकच उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने आया। उसके पूरे शरीर पर भस्म मला हुआ था, सिर पर लम्बी जटा थी, वस्त्र लाल रंग के थे, मद्यपान के फलस्वरूप उसकी दोनों आँखें लाल हो रही थीं, उसके एक हाथ में मनुष्य की खोपड़ी और दूसरे में एक त्रिशूल था। एक तो उसकी ऐसी विभत्स मूर्ति थी, उस पर जब वह अपने घोर अश्लील असभ्य मत की व्याख्या करने लगा, तब शंकर के शिष्यों ने नाराज होकर उसे भगा दिया। क्रकच अपमानित होकर अपने मतवालों का दल लेकर युद्ध करने आया। उन लोगों ने सम्भवत: सोचा था कि शास्त्र में तो जीत नहीं सकेंगे, शस्त्र उठाकर अन्तिम प्रयास करके भी देख लें। राजा सुधन्वा पहले से ही तैयार थे। उनकी प्रशिक्षित सेना के प्रतिकार करने पर कापालिकों ने घुटने टेक दिये। कहते हैं कि क्रकच ने अन्त में अपने इष्टदेव भैरव का स्मरण किया था। भैरव के आविर्भूत होने पर उसने उनसे आचार्यदेव का वध कर देने की प्रार्थना की। परन्तु शिवानुचर भैरव ने इस पर क्रुद्ध होकर उसी की भर्त्सना की; एक अन्य मतानुसार भैरव ने अपने त्रिशूल के आघात से क्रकच का सिर काट डाला। जो भी हुआ हो, क्रकच की मृत्यु अथवा पराजय के बाद उसके शिष्यों ने भय, विस्मय अथवा भक्ति के कारण शंकर के चरणों में आश्रय लिया।

अन्य अनेक अवैदिक मतावलम्बियों ने शंकर का ऐसा प्रभाव देख सहज ही वेदमार्ग स्वीकार कर लिया। राजा सुधन्वा अपने गुरु की देहरक्षा के लिए सैन्यदल को साथ लेकर आचार्यदेव के साथ साथ भ्रमण करने लगे।

श्वोपासना का निवारण

मल्लपुर नामक स्थान में एक बड़ा ही अद्‌भुत सम्प्रदाय था, जिसके अनुयायी कुत्तों की उपासना किया करते थे। वेद में एक जगह सर्वव्यापी भगवान के एक स्तव में "श्वभ्यो नमः, श्वपतिभ्यश्च वो नमः" कहकर स्तुति की गयी है। परन्तु ये लोग उस वेदवाक्य का गलत अर्थ लगाकर कुत्तों की पूजा किया करते थे। कुत्तों के समान आवाज निकालना और सर्वदा नृत्य-गीत करना ही उनके धर्म का प्रधान अंग था। ये लोग ब्राह्मण थे। शंकर के प्रचार के फलस्वरूप इनमें चेतना आयी। उनके शिष्यों ने इन लोगों के मस्तक मुण्डित करा कर दस सहस्र बार स्नान कराया, तदुपरान्त उनके सिर पर कीचड़ का लेप कर पुनः सौ बार स्नान, उसके बाद फिर सौ बार स्नान और प्रायश्चित के द्वारा उनके शरीर-मन का शुद्धीकरण करके उन्हें ब्राह्मणों के आचार की दीक्षा दी गयी।

धर्म-स्थापना

आचार्यदेव ने सोलह वर्ष तक सम्पूर्ण भारत का पैदल भ्रमण करते हुए वैदिक धर्म का प्रचार किया। इस महादेश भारतवर्ष में उन दिनों कितनी भाषाएँ, कितने धर्म और कितने आचार प्रचलित थे, इसका वर्तमान अवस्था को देखकर ही अनुमान किया जा सकता है। प्रबल वायु जिस प्रकार आकाश के मेघदल को छिन्न-भिन्न कर चारों ओर बिखरा देती हैं, उसी प्रकार कुमारिल और शंकर के द्वारा कुधर्म और विकृत धर्म को पराजित और विच्छिन्न कर देने के पश्चात भारत-गगन में वेद-सूर्य का उदय हुआ था।

बौद्धधर्म की छाया में जो अपकर्म तथा धर्म शास्त्र-बहिर्भूत मत घास-पतवार की तरह फैल गये थे, कुमारिल द्वारा बौद्धधर्म के साथ ही वे भी विताड़ित होकर दूर-दराज के अंचलों में छिपकर आत्मरक्षा का प्रयास कर रहे थे। वामाचारी कापालिकों ने पूर्व सीमान्त के कामरूप तथा दक्षिण कर्नाटक को अपना केन्द्र बना रखा था। आचार्यदेव ने उन सीमान्त प्रदेशों तक का दौरा कर वैदिक मत प्रचारित किया था। उन्हें जितने प्रकार के मतों और सम्प्रदायों का सामना करना पड़ा था, उसका अत्यल्प ही हमें विदित हो सका है; और जो कुछ विदित है उसका भी इस लघु जीवनी में सविस्तार वर्णन सम्भव नहीं है।

संसार-सर्वस्वता के भाव से भारत का उद्धार करने हेतु ही भगवान ने आचार्यदेव को भेजा था, इसीलिए उनकी अदम्य शक्ति-वेग से कुमत तथा दुराचार यहाँ से दूर हो गये।

कामरूप में

कामरूप में एक प्रबल तांत्रिक वामाचारी सम्प्रदाय के नेता थे अभिनव गुप्त। उन्होंने वेदान्त सूत्र के एक शाक्त भाष्य की रचना की थी। शंकर के वहाँ पहुँचने पर दोनों के बीच कई दिनों तक तर्क-विचार होता रहा। पराजित हो जाने के बाद अभिनव गुप्त ने कपट-भाव से आचार्यदेव का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। परन्तु ईर्ष्यावश उनका हृदय जला जा रहा था, अतः 'अभिचार' क्रिया के द्वारा उन्होंने आचार्यदेव के निष्पाप शरीर में भगन्दर रोग

उत्पन्न किया। शिष्यगण प्राणपण से गुरु की सेवा करने लगे। तोटकाचार्य गुरु की सुश्रूषा करते हुए आहार-निद्रा तक भूल गये। आचार्यदेव इस रोग का कारण समझते थे, इसीलिए वे किसी प्रकार की चिकित्सा कराने को राजी नहीं हुए। शिष्यों के निरन्तर अनुरोध पर आखिरकार उन्होंने औषधि का सेवन किया, परन्तु उससे रोग का थोड़ा भी उपशम नहीं हुआ। शिष्यगण बड़े भयभीत हुए। पद्मपाद योगबल से जान गये कि यह अभिचार द्वारा उत्पन्न रोग है और चिकित्सा से ठीक होनेवाला नहीं है। तब उन्होंने अभिचारियों के ही शरीर में रोग को लौटा देने के लिए प्रत्याभिचार किया। आचार्यदेव ने हिंसा करने से उन्हें बारम्बार मना किया, परन्तु गुरुभक्त शिष्य ने बहुजनहिताय गुरु के आदेश का उल्लंघन रूपी महापाप स्वीकार कर उनकी देहरक्षा की। शंकर स्वस्थ हुए और अभिनव गुप्त अपना पाप स्वयं भोगकर दिवंगत हो गये।

विद्यापीठ पर आरोहण

भूस्वर्ग काश्मीर उन दिनों विद्याचर्चा के केन्द्र के रूप में भारत भर में विख्यात था। वहाँ एक विश्वविद्यालय था जिसमें सर्व शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। उसमें सरस्वती देवी का एक मन्दिर भी था। मन्दिर के चारों ओर चार द्वार थे और द्वार के सम्मुख एक मण्डप था। मन्दिर में स्थित एक आसन विद्याभद्रासन या सारदापीठ कहलाता था। मन्दिर के संस्थापकों ने ऐसा नियम बना रखा था कि मन्दिर के चारों ओर फैले देशों से आगत जो भी पण्डित मन्दिर-रक्षक पण्डित-मण्डली के प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देकर अपने देश की ओर के द्वार को खोल उक्त पीठ पर आरोहण कर सकेंगे, उन्हें सर्वज्ञ मान लिया जाएगा। इसके पहले पूर्वोक्त नियमानुसार पश्चिम, उत्तर एवं पूर्वदेशीय पण्डितों ने अपने देशाभिमुखी द्वार का उद्घाटन कर सर्वज्ञ की उपाधि प्राप्त कर ली थी। परन्तु दक्षिण के कोई पण्डित अब तक दक्षिणी द्वार का उद्घाटन नहीं कर सके थे।

शंकर ने सोचा कि उस पीठ पर आरोहण कर सर्वज्ञ की ख्याति पा लेने पर अनायास ही काश्मीर राज्य में वैदिक धर्म तथा अद्वैत मत स्वीकृत हो जाएगा। ऐसा विचार लेकर वे सशिष्य काश्मीर जाकर सारदापीठ का दक्षिणी द्वार खोलने को उद्यत हुए। मन्दिर-रक्षक पण्डितों ने उन्हें रोककर तर्क-विचार करने का आह्वान किया। शंकर ने खेल खेल में ही एक एक कर सम्पूर्ण पण्डित-मण्डली के प्रश्नों के उत्तर देकर सबको चुप कर दिया। तदुपरान्त उन्होंने द्वार खोलकर विद्या-भद्रासन पर आरोहण करके सर्वज्ञ की उपाधि अर्जित की। फिर तो अल्प अवधि में ही काश्मीर में उनका मत प्रचारित हो गया।

□ (क्रमशः) □
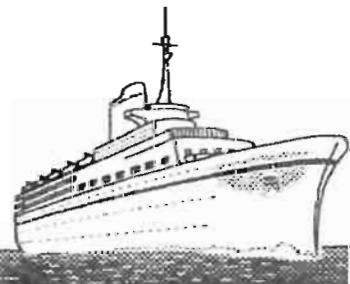
माँ के सान्निध्य में (४८)

श्रीशचन्द्र घटक

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदादेवी के प्रेरणादायी उपदेशों का मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद अनेक वर्षों से विवेक-ज्योति में प्रकाशित हो रहे हैं। इस बीच अब तक प्रकाशित अंश 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत है उसी के प्रथम भाग से आगे के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद। - सं.)

१९१० ई. के ज्येष्ठ महीने में हम कुछ लोग श्री माँ के दर्शन की इच्छा से जयरामबाटी गये। माँ का पुराना फोटोग्राफ हम सबने देखा था। इस बार मार्ग में हममें से एक ने स्वप्न में माँ के वर्तमान रूप का दर्शन किया और बाद में जयरामबाटी पहुँचने पर स्वप्न में देखे हुए चेहरे के साथ प्रत्यक्ष का खूब साम्य दिखाई देने पर हम लोगों को अपार आनन्द तथा विस्मय हुआ। हम में से एक जन पहले से ही एक संन्यासी से दीक्षा प्राप्त कर चुके थे। उनकी दीक्षा का प्रसंग उठने पर माँ ने कहा, "संन्यासी का मंत्र है, तुम्हारा चैतन्य होगा।" उनके अतिरिक्त हम सभी ने इस बार श्री माँ से महामंत्र प्राप्त किया। दीक्षा के बाद ही कामारपुकुर जाने की इच्छा से श्री माँ की अनुमति माँगने पर उन्होंने कहा था, "ऐसा भी क्या होता है? आज तो मैं अपने बच्चों को अच्छी तरह खिलाऊँगी।"

मैंने गीता में पढ़ रखा था –

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। (४/१६)

– क्या कर्तव्य है और क्या नहीं – इस विषय में विद्वान लोग भी भ्रमित हो जाते है, अत: मैं तुम्हें कर्म के विषय में बतलाता हूँ, जिसे जानकर तुम बुराइयों से मुक्त हो जाओगे।

अत: भवबन्धन को दूर करने हेतु माँ की कृपा प्राप्त करने के बाद मुझे और क्या करना चाहिए, यह पूछ लेना उचित समझकर मैंने उनसे कहा, "माँ मुझे और क्या करना होगा?"

माँ – तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा।

मैं – कुछ भी नहीं करना होगा?

माँ – नहीं।

मैं – कुछ भी नहीं?

माँ बोलीं, "नहीं, कुछ भी नहीं।"

तीन बार यह एक ही उत्तर पाकर मैं समझ गया कि उन्होंने कृपा की है और मेरे भव-बन्धन को दूर करने का सारा उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया है।

मैंने भानू बुआ[1] का हाथ देखकर कहा था, "बुआ, तुम और भी पच्चीस वर्षों तक जीवित रहोगी।" उन्होंने जाकर माँ को बताया, "माँ, तुम्हारा लड़का हाथ देखना जानता है।" माँ ने मुझे बुलवाकर कहा, "बेटा, तुम हाथ देखना जानते हो? बताओ तो जरा, मेरे

१. श्रीरामकृष्ण की समकालीन जयरामबाटी की एक पुरानी महिला-भक्त

पाँव की बीमारी (वात) ठीक होगी या नहीं? प्रश्न सुनकर मैं तो अवाक रह गया, क्योंकि ज्योतिष आदि मैं बिल्कुल भी न जानता था। भानु बुआ को तो मैंने ऐसे ही अनुमान से कुछ कह दिया था। मैंने सुन रखा था कि भक्तों के शरीर से पापों को ग्रहण कर लेने के कारण ही माँ के शरीर में यह रोग हुआ था, इसीलिए मैं बोला, "हम लोगों के कारण ही तो यह बीमारी हुई है, सो हम लोगों के रहते भला कैसे ठीक होगा?" खड़ी खड़ी बातें करती हुई माँ यह सुनते ही अत्यन्त व्यथित होकर धरती पर बैठ गयीं और तत्काल बोल उठीं, "हे भगवान, यह कहता क्या है?" माँ को ऐसा करते देख मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर कह उठा, "माँ, क्या तुम्हें ठीक होने की इच्छा होती है?"

माँ – हाँ।

मैंने कहा – तब तो अवश्य ही ठीक हो जायेगा।

इस पर माँ के चेहरे पर प्रफुल्लता आ गयी। क्षण भर बाद ही वे बोलीं, "देखते हो न, कैसी भक्ति है! मानो सब कुछ मेरी ही इच्छा पर निर्भर हो!"

गाँव लौटने के दिन माँ को प्रणाम करने गया। मैं बोला, "माँ, मैं जप की गिनती ठीक से नहीं रख पाता। अंगुलियाँ चलती हैं तो मुख रुक जाता है और अंगुलियाँ-मुख चलने पर मन स्थिर नहीं होता।"

माँ ने उत्तर दिया, "इसके बाद देखोगे कि अंगुलियाँ तथा जीभ भी नहीं चलेंगे – केवल मन में होगा।

लौटते समय मैंने प्रणाम करके बोला, "माँ, जाता हूँ।" सुनते ही माँ कह उठीं, "बेटा, 'जाता हूँ' नहीं, बल्कि 'फिर आऊँगा' कहना चाहिए।

भूल सुधारती हुई माँ की कृपादृष्टि पाकर मैंनें विदा ली।

१९१२ ई. की दुर्गापूजा के बाद श्री माँ जब वाराणसी गयी थीं, उस बार दिसम्बर में माँ के जन्मतिथि के अवसर पर हम लोग भी वहाँ गये थे। उनकी जन्मतिथि के दिन सबेरे हमने 'लक्ष्मी-निवास' में जाकर माँ को प्रणाम करके पुष्पमालाओं से उनकी पूजा की थी। माँ ने सबको एक एक प्रसादी माला प्रदान किया था। बाद में श्री माँ की प्रसादी मिठाई पाकर हम लोग 'अद्वैत आश्रम' लौट आये। वहाँ पर जन्मतिथि-पूजा के उपरान्त जब होम हो रहा था और सभी लोग मिलकर होमाग्नि में आहुतियाँ दे रहे थे, तब हम लोगों द्वारा भी आहुति देने को प्रस्तुत होने पर कोई कोई आपत्ति उठाते हुए कह उठा, "तुम लोग खाकर आये हो, आहुति मत देना।" परन्तु मेरे अतिरिक्त बाकी सभी लोगों ने आहुति प्रदान की। श्री माँ भी उस समय आश्रम में आयी हुई थीं। यह सब देखकर वे भक्त-स्त्रियों से कहने लगीं, "इन लोगों ने तो मेरा प्रसाद खाया है; भोजन कहाँ किया? आहुति अवश्य देंगे।"

यह बात मैंने बाद में उन भक्त-महिलाओं से सुनी थी।

१९१३ ई. के माघी अष्टमी के दिन श्री माँ की अनुमति पाकर मैं अपनी पत्नी तथा विधवा बहन को माँ की कृपा (मंत्र) प्राप्त कराने की आशा में श्रीचरणों में ले आया था। उस दिन माँ ने उन दोनों को दीक्षा प्रदान की। मेरी पत्नी ने माँ से पूछा था, "माँ, मेरी शिव-पूजा करने की इच्छा होती है। कर सकती हूँ क्या?" इसके उत्तर में माँ ने कहा था,

"अभी तो तू बच्ची है, कर नहीं सकेगी । बाद में समय आने पर सीखकर शिव-पूजा करना । अभी सास-ससुर की सेवा करो ।" माँ ने मेरी बहन की प्रशंसा करते हुए कहा था, "इसका मन बड़ा अच्छा है ।" हम लोग आम ले गये थे । उन दिनों आम महँगे थे । माँ ने उन आमों को देखकर कहा था, "इतने पैसे खर्च करके आम क्यों लाये? और फिर ये आम अभी खाने में भी ठीक नहीं हैं – खट्टे हैं ।"

१९१३ ई. की जनमाष्टमी की छुट्टियों में हम कुछ गुरुभाई एक साथ मिलकर जयरामबाटी गये । साथ में एक व्यक्ति का एक अल्पवयस्क पुत्र भी था । संध्या को हम लोग कोयलपाड़ा आश्रम पहुँचे । छुट्टी की अवधि अल्प होने के कारण हम लोग उस मठ में ठहरने का अनुरोध टालकर उसी रात जयरामबाटी के लिए रवाना हो गये । रास्ते में मूसलाधार वर्षा आरम्भ हो गयी । भयानक अन्धकार फैला हुआ था । मार्ग कीचड़ तथा जल से परिपूर्ण था । इन समस्त संकटों को पार करते हुए हम लोग जयरामबाटी जा पहुँचे । परन्तु हम लोगों के पहुँचते पहुँचते रात काफी हो जाने के कारण उस रात माँ को कोई समाचार नहीं दिया जा सका । अगले दिन सुबह जब हम लोग माँ को प्रणाम करने गये, तब माँ ने सारी बातें सुनने के बाद हमें डाँटते हुए कहा था, "बेटा, ठाकुर ने ही रक्षा की । अन्धकार में इतनी वर्षा-जल-कीचड़ में कितने-ही साँप कुचल आये हो ! ऐसा करने से मुझे कष्ट होता है । ऐसा हठ अच्छा नहीं ।"

हमने कहा, "माँ, तुम्हें देखने को मन बड़ा आकुल हुआ था, और फिर छुट्टियाँ भी कम थीं, इसीलिए हमने इतनी जल्दबाजी की ।"

माँ – तुम लोगों को तो ऐसी इच्छा होगी ही, परन्तु इससे मुझे पीड़ा होती है ।

निवेदिता बालिका विद्यालय की भूतपूर्व मुख्य परिचालिका सुधीरा दीदी तब जयरामबाटी में ही थीं । उस दिन माँ ने दोपहर के समय मुझे बुलवाकर कहा, "देखो, सुधीरा तुम लोगों के साथ विष्णुपुर तक जायेगी । बड़ी सावधानीपूर्वक जाना । उसकी गाड़ी को अपनी दोनों गाड़ियों के बीच में रखना । तुम लोग मेरे अपने आदमी हो, मेरे बच्चे हो ।"

मैं – हाँ, अवश्य ले जायेंगे । जैसा तुम कहती हो, ठीक उसी प्रकार ले जायेंगे ।

रात में भोजन के समय माँ हम लोगों के समीप बैठकर बातचीत करने लगीं । उसी समय उस छोटे बच्चे की दीक्षा का प्रसंग उठाने पर उन्होंने कहा, "अभी तो बच्चा है, शौच होकर धो तक नहीं पाता, (तब उसकी आयु ७-८ वर्ष रही होगी) इस समय भला दीक्षा कैसे हो सकती है? बच्चा भक्त है, दीर्घायु हो, भक्तदास हो ।" फिर वे मुझसे बोलीं, "उसका भात मिला दो ।"

बातों बातों में मैंने कहा, "माँ, हम लोग जिस-तिस के हाथ का खाते हैं – इससे कोई हानि होती है क्या?"

माँ – ठाकुर श्राद्ध का खाने से विशेष रूप से मना किया करते थे । उससे भक्ति की हानि होती है । सभी कर्मों से यज्ञेश्वर नारायण की अर्चना होती है, तथापि वे श्राद्ध का अन्न खाने से मना किया करते थे ।

मैंने पूछा, "सगे-सम्बन्धियों के श्राद्ध में क्या करूँगा?

माँ – सगे सम्बन्धियों के मामले में बचने का कोई उपाय ही कहाँ है?

अगले दिन अपराह्न में लगभग दो बजे मैं माँ के दर्शन करने गया था। माँ अनमने भाव जमीन पर ही बैठी हुई थीं। उसी वर्ष कुछ काल पूर्व ही दामोदर नदी में भयानक बाढ़ आयी थी। माँ ने पूछा, "बेटा, बाढ़ से क्या लोगों को खूब कष्ट हो रहा है?" मैंने समाचार-पत्रों तथा लोगों के मुख से जो कुछ सुन रखा था, वही बताने लगा। माँ एकाग्रतापूर्वक सुनने के बाद करुण कण्ठ से कहने लगीं, "बेटा, जगत का भला करो।" माँ की यह बात सुनकर मन-ही-मन उनके इस विराट-विग्रह के सेवाधिकार की प्रार्थना करने के बाद कमरे से बाहर निकलने के पूर्व उन्हें प्रणाम करते समय मैंने सुना – माँ स्वगत में कह रही थीं, "केवल रुपया, रुपया, रुपया।" माँ के मुख से 'रुपया, रुपया' सुनकर मैं सिहर उठा। लगा कि माँ ने मेरे भीतर भावों का अतिरेक देखकर ही यह बात कही थी। परन्तु तत्काल ही माँ ने मेरी ओर देखते हुए कहा, "नहीं बेटा, रुपये की भी जरूरत है। यही देखो न, काली (मामा) केवल रुपया रुपया ही करता रहता है।"

१९१५ ई. के २४ दिसम्बर को मैं सपरिवार माँ के दर्शन करने 'उद्‌बोधन' कार्यालय गया। मेरी पत्नी के हाथ में थोड़ी-सी फल-मिठाइयाँ थीं। गोलाप-माँ उसे अगले दिन ठाकुर को भोग देने के निमित्त उठाकर रख रही थीं। माँ ने मना करते हुए कहा, "नहीं जी, बहू जो मिठाइयाँ लायी है, उन्हें इसी पहर ठाकुर के भोग में देना, इससे बहू का कल्याण होगा।" अगले दिन प्रातःकाल मेरी पत्नी माँ के पास गयी थी और शाम को घर लौटकर उसने मुझे बताया –

"आज माँ ने मेरे ऊपर कितनी कृपा की! जीवन में चिर काल तक इससे मुझे आनन्द मिलेगा। नौ-दस बजे के समय माँ तीन पैसे के मुरमुरे तथा चने मँगाकर अपने आँचल में लिए जमीन पर बैठीं दो-चार अपने मुख में डाल रही थीं और मुट्ठी भरकर मुझे देते हुए कह रही थीं – बहू, लो खाओ। जीवन में मुझे बहुत-सी अच्छी अच्छी चीजें खाने को मिली हैं, परन्तु आज के उस मुरमुरे खाने के आनन्द की कोई तुलना नहीं है। दोपहर के समय उन्होंने अपने चरणों पर हाथ फेर देने को कहा और अपना बिस्तर झाड़कर धूप में डाल देने को कहा। ऐसे ही छोटी-मोटी सेवाएँ स्वीकार करके उन्होंने मुझे कृतार्थ कर दिया है। आज मेरे साथ उनकी यह बात भी हुई। मैंने कहा था – माँ, ठाकुर को अन्नभोग दे सकती हूँ।

माँ – हाँ, ठाकुर को अन्नभोग देना। वे सुक्तो (एक तरह की रसेदार सब्जी) खाना पसन्द करते थे। ...

बात बात में मैंने कहा, "माँ, इस युद्ध (प्रथम विश्वयुद्ध) से देश भर में हाहाकार मचा हुआ है, लोगों को बड़ा कष्ट हो रहा है, अन्न-वस्त्र महँगे हो गये हैं।

माँ – इससे भी तो लोगों में चैतन्य नहीं होता।

मैं – माँ, इस युद्ध से क्या हम लोगों का भला होगा?

माँ – भगवान जब आते हैं, तब ऐसा ही हुआ करता है। और भी बहुत कुछ होगा।

उस दिन अपराह्न में जब मैं माँ को प्रणाम करने गया था, तो माँ ने उस जन्माष्टमी की छुट्टियों में रात के समय अन्धकार में वर्षा के बीच जयरामबाटी जाने की बात का उल्लेख करते हुए फिर से मुझे डाँटते हुए कहने लगीं, "जिद करके चलना अच्छा नहीं।"

मैं – नहीं, अब ऐसे नहीं जाऊँगा।

लगता है माँ ने इस बात का ऐसा अर्थ समझा कि मैं अब पुन: जयरामबाटी नहीं जाऊँगा । वे तत्काल कह उठीं, "जाओगे क्यों नहीं । बेटा, तुम लोगों के पाँवों में काँटा चुभने से मेरे सीने में (शेल बजता) है ।" मेरी पत्नी की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "बहू, तुम उसको देखना कि कहीं वह इस प्रकार न चला करे ।"

१९१७ ई. की दुर्गापूजा की छुट्टियों में मैं तथा मेरे एक अन्य गुरुभाई (यतीन) श्री माँ का दर्शन करने गये । हम लोग माँ के लिए दो वस्त्र ले गये थे । हमने दोनों वस्त्र माँ के श्रीचरणों में रखकर प्रणाम किया । वे आशीर्वाद करते हुए बोलीं, "बेटा, तुम लोगों की हालत ठीक नहीं है, तुम लोगों ने ये कपड़े क्यों दिये?" हम दोनों थोड़े खिन्न होकर बोले, "माँ, तुम्हारे धनी बच्चे तुम्हें कीमती वस्त्र देते हैं । तुम्हारे निर्धन बच्चे ये मोटे कपड़े लाये हैं । तुम इन्हें स्वीकार करके इनकी मनोकामना पूर्ण करो ।" सुनते ही माँ सस्नेह कह उठीं, "बेटा, ये ही मेरे लिए रेशमी वस्त्र हैं ।" यह कहकर उन्होंने हाथ फैलाकर वे दोनों कपड़े ग्रहण किये । माँ उन दिनों दाँत की पीड़ा से खूब कष्ट पा रही थीं । उसी का उल्लेख करते हुए वे बोलीं, "बेटा, ठाकुर कहा करते थे – जिसे दाँत की पीड़ा नहीं हुई है, वह दाँत की पीड़ा को समझ नहीं सकता ।"

१९१७ ई. में राँची में ठाकुर का उत्सव होने के पूर्व मैंने माँ को पत्र लिखकर याचना की थी कि उत्सव निर्विघ्न सम्पन्न हो जाय । उसके उत्तर में माँ ने सूचित किया था, 'तुम लोगों का पत्र पाकर इतना आनन्द हुआ कि उसे पत्र में लिखना सम्भव नहीं है । तुम लोग ठाकुर की सन्तान हो । तुम लोगों के इस सत्कार्य में वे स्वयं ही सहायक हैं । इसके लिए तुम्हें भय-चिन्ता कैसी?"

१९१९ ई. के ज्येष्ठ माह में मैं जयरामबाटी गया था । वहाँ मैंने माँ से पूछा था, "माँ, ठाकुर से मन-ही-मन प्रार्थना करने से क्या वे सुनते हैं? और तुम्हें कहे बिना क्या ठाकुर को कहा जा सकता है?"

इसके उत्तर में माँ ने उत्तेजित कण्ठ से कहा था, "ठाकुर यदि सत्य हों, तो अवश्य सुनेंगे ।"

इस बार श्री माँ के चरणों में प्रणाम करके जयरामबाटी से प्रस्थान करते समय मैंने उनसे कहा था, "माँ, दिन का समय होने के कारण यदि मुझे बैलगाड़ी न मिले, तो फिर कोतलपुर से पैदल ही विष्णुपुर जाऊँगा ।"

माँ ने कहा, "बेटा, शरीर को कष्ट क्यों दोगे? गाड़ी अवश्य मिलेगी ।" माँ की बात सत्य निकली। मुझे गाड़ी मिल गयी। देहधारिणी माँ का यही मेरे लिए अन्तिम दर्शन था ।

□(क्रमश:)□

संस्कृत का विश्वव्यापी प्रभाव

प्रज्ञाभारती श्रीधर भास्कर वर्णेकर

पिछले हजारों वर्षों के दौरान भारत पर निरन्तर अन्य राष्ट्रों के आक्रमण होते रहने के कारण विभिन्न आक्रमणकारी राष्ट्रों की भाषा तथा संस्कृति का भारतीय जीवन पर काफी अधिक मात्रा में प्रभाव पड़ा दिखाई देता है। भारत ने न तो कभी अन्य राष्ट्रों पर राजनैतिक आक्रमण किया और न ही किसी राष्ट्र की संस्कृति को नष्ट करने की कुनीति ही अपनायी। तथापि विश्व के अनेक देशों के जीवन पर और विचारों पर भारतीय विचारधारा तथा शास्त्रों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

संस्कृत भाषा तथा उसमें लिपिबद्ध शास्त्रों के विषय में हमारे प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी कहते हैं, ''सस्कृत वाङ्मय न केवल भारत की, अपितु सम्पूर्ण मानव-जाति की एक अत्यन्त अमूल्य निधि है।'' हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल नेहरू कहते हैं, ''अगर कोई मुझे पूछे कि आपका सर्वोत्कृष्ट पैतृक धन कौन-सा है, तो मैं उसे स्पष्ट रूप से कहूँगा कि 'संस्कृत भाषा और उसमें निहित ज्ञान'। जब तक संस्कृत का महत्व है तब तक भारत का भी महत्व बना रहेगा।''

हमारे नेताओं के ये उद्गार सर्वथा उचित हैं। संस्कृत भाषा और तदन्तर्गत विविध विद्याओं का ऐसा असाधारण महत्व होने के कारण ही विश्व-इतिहास का अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि ससार के प्रायः सभी देशों ने स्वेच्छा या आवश्यकता के चलते भारत का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था।

ईरान तथा अरब देशों में

इस्लाम के आविर्भाव के पूर्व से ही भारत का ईरान तथा अरब देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध बना हुआ था। छठवीं शताब्दी के मध्य काल में ईरान के सासानी वंश के बादशाह खुस्तु नौशेरवान ने भारत से आयुर्वेद तथा आध्यात्मिक विद्या सम्बन्धी कुछ संस्कृत ग्रन्थ बुवझोया नामक विद्वान की सहायता से ईरान में मँगवाकर उनका अपनी ईरानी भाषा में अनुवाद कराया था।

फिर ईसा की आठवीं शताब्दी के दौरान बगदाद में एक दूसरे खलीफा अल मन्सूर का राज्य था। इस विद्यारसिक खलीफा ने भारत से अनेक संस्कृत-पण्डितों को बगदाद में आमंत्रित करके उनकी सहायता से गणित, ज्योतिष, चिकित्सा, साहित्य, नीति इत्यादि विषयों के संस्कृत-ग्रन्थ अरबी भाषा में अनुवाद कराये। हारूँ अल रशीद ने भी इसी नीति को अपनाकर अरब में ज्ञान का विस्तार किया। अरबी बादशाहों की इस उदार नीति के फलस्वरूप अरब को संस्कृत के ज्ञानभण्डार से काफी लाभ हुआ और भारत की कीर्ति तथा प्रतिष्ठा सर्वत्र प्रसिद्ध हुई। अरबी के प्राचीन ग्रन्थों में आज भी अनेक भारतीय नामों का उल्लेख मिलता है, यथा बहला, मनका बाजीगर, फलबरफल, सिन्दबाद, बाखर, राजा,

दाहर, अनक्रू जनकल, अरीकल, जबभर अन्दी, जबारी इत्यादि। यह नाम प्राचीन अरबी लिपि में लिखे होने के कारण इनका वास्तविक स्वरूप समझना आज कठिन हो गया है। मनका पण्डित ने हारूँ अल रशीद को रोगमुक्त किया था। बगदाद के सारे चिकित्सकों की तुलना में 'मनका पण्डित' के ज्ञान की श्रेष्ठता देखकर हारूँ अल रशीद ने उन्हें अपने राज्य में संस्कृत-ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद करने के काम पर अधिकारी नियुक्त किया था।

अरब को गणित-विषयक सारा ज्ञान भारत से प्राप्त संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद द्वारा ही प्राप्त हुआ था। इसका प्रमाण यह है कि अरबी भाषा में अकों को 'हिन्दसा' और अंक-प्रणाली को 'हिसाबे-हिन्दी' या 'हिन्दी-हिसाब' कहते हैं। सन् ७७१ में ज्योतिष शास्त्र के बृहस्पति-सिद्धान्त का अरबी अनुवाद बगदाद में 'अस्रू सिंद हिंद' नाम से प्रसिद्ध हुआ। आर्यभट्ट के ग्रन्थ का अरबी अनुवाद 'अरजबंद' या 'अरूजबद्दर' नाम से प्रकाशित हुआ। ब्रह्मगुप्त के 'स्फुट-सिद्धान्त' ग्रन्थ के अनुवाद को 'अरकन्द' या 'अहरकन' नाम मिला।

संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद होने के कारण संस्कृत के अनेक पारिभाषिक शब्द अरबी भाषा में प्रचलित होकर रूढ़ हुए हैं, जैसे संस्कृत 'क्रमज्या' से अरबी 'कदर्ज', संस्कृत 'ज्या' से अरबी 'जैब', संस्कृत 'उच्च' से अरबी 'ओर्जे', संस्कृत 'उज्जयिनी' से अरबी 'उरैन', संस्कृत 'अधिक-मास' से अरबी 'बजमास' आदि आदि।

संस्कृत चिकित्सा-शास्त्र के सुश्रुत-संहिता (अरबी में 'ससरो'), चरक-संहिता, माधव-निदान, सिद्धिस्थान (अरबी-सन्दस्ताक-सन्धशान) आदि अनेक प्रमुख ग्रन्थों के अरबी तथा फारसी भाषा में अनुवाद हुए। इन अनुवादों के द्वारा ही मुसलमानी राष्ट्रों को भारतीय वनस्पति, पथ्याभ, औषधियों के शीतोष्णादि गुणधर्म, स्त्रीरोग, मादक पदार्थ, पेय द्रव्य, इत्र आदि विषयों का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त हुआ था। 'फिर्दोस अलहिक्मा' नामक अरबी ग्रन्थ में भारत के समस्त औषधियों की नामावली दी गई है। इस ग्रन्थ में छत्तीस अध्याय हैं। यह ग्रन्थ ईसा की नवीं शताब्दी में लिखा गया। राय नामक किसी पण्डित द्वारा लिखे सर्पविद्या-विषयक एक संस्कृत ग्रन्थ का भी अरबी में अनुवाद हुआ था।

शानक (चाणक्य) पण्डित के विषविद्या-विषयक संस्कृत ग्रन्थ के अरबी और फारसी अनुवाद का उल्लेख मिलता है। स्पेन के किसी अरबी विद्वान को भारतीय संगीत-शास्त्र विषयक ग्रन्थ का 'नाफर' नाम का अनुवाद पढ़ने को मिला था। इस विद्वान का नाम काजी जाईद अन्दलसी था। महाभारत का प्रथम अरबी अनुवाद अबू सालह बिन शुएब ने किया था। फारसी के 'मुज्मिले तवारीख' नामक ग्रन्थ में महाभारत की अनेक कथाएँ अनुवादित हुई थीं। ग्यारहवीं शताब्दी में अबुल हसन बिन अली जिबिल्ली नामक किसी एक ग्रन्थपाल ने महाभारत का दूसरा अरबी अनुवाद किया था।

राजनीति-विषयक चाणक्य (शानक) तथा व्याघ्र (बाखर) के संस्कृत ग्रन्थों के अरबी अनुवाद हुए थे। उसी प्रकार 'अद्बुल मुल्क' नामक राज्य-व्यवस्था-विषयक किसी अज्ञात संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद भी अरबी भाषा में उपलब्ध है। यह अनुवाद 'अनुसालह बिन शुएब' नामक अरबी विद्वान ने किया था।

दसेवीं शताब्दी के दौरान बनायी गयी 'इब्न-नदीम्' नामक ग्रन्थों की एक तालिका में 'किताब हुदद मन्तिकुल हिन्द' नामक तर्कशास्त्र-विषयक अनुवाद का उल्लेख मिलता है।

संस्कृत का 'पंचतन्त्र'

संस्कृत के पंचतन्त्र ग्रन्थ का जागतिक वाङ्मय में एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। ईसा की छठी शताब्दी में इस ग्रन्थ का पहलवी भाषा में बुर्जावाया नामक विद्वान ने अनुवाद किया। बाद में सीरियाक, अरिमाइक तथा अरबी भाषाओं में भी इसके अनुवाद हुए। अब्दुल्लाह बिन मुकफ्फा ने यह अरबी अनुवाद पूरा किया था। अब्बान नामक अरबी कवि ने पंचतन्त्र का पद्यमय अनुवाद किया और हारून अल रशीद के प्रधानमन्त्री जाफर बरमकी को इसकी सूचना दी। तब जाफर बरमकी ने प्रसन्न होकर उसे एक लाख दिरहम का पुरस्कार दिया था। यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका की समस्त प्रमुख भाषाओं में इस 'पंचतन्त्र' ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है।

शेख मोहम्मद बिन इस्माइल, अबु दैहानु अल् बेरूनी आदि अनेक विदेशी यात्रियों ने भारत में आकर संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और अनेक संस्कृत-ग्रन्थों के अपनी अपनी भाषाओं में अनुवाद किये। पूर्वी एशिया के जीवन पर आज भी सस्कृत साहित्य का भरपूर प्रभाव दिखाई देता है। म्यान्मार, श्याम, कम्बोडिया, बाली, सुमात्रा, हिन्दचीन इत्यादि देशों में रामायण, महाभारत आदि महान संस्कृत काव्य तथा वेणी-संहार, उत्तर-रामचरित, अभिज्ञान-शाकुन्तल आदि अनेक नाट्य-ग्रन्थों के अनुवाद काफी प्राचीन काल में ही कर लिये गये थे। तिब्बत और चीन की भाषाओं में भारत के लगभग ९० प्रतिशत संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद उपलब्ध होते हैं। कुछ ग्रन्थ तो अपने मूल संस्कृत रूप में तो लुप्त हो गये, परन्तु उनके तिब्बती या चीनी अनुवाद अब भी उनका अस्तित्व-बोध कराते हैं।

यूरोप को अप्रत्यक्ष रूप से ही संस्कृत साहित्य का परिचय मिला था। १६५१ ई. में अब्राहम रोजर नामक ईसाई-धर्मप्रचारक ने यूरोप को संस्कृत-साहित्य का प्रथम परिचय दिया। यह अब्राहम रोजर डच जातीय (हालैंडवासी) था। सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोपीय विद्वानों ने बड़े परिश्रम के साथ संस्कृत के काव्य, नाटक, कोष, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, व्याकरण आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया और अन्य बहुत-से विद्वान इन संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद पढ़कर ठगे से रह गये। यूरोप को संस्कृत साहित्य का प्रथम परिचय महाकवि कालिदास विरचित 'शाकुन्तल' के अनुवाद द्वारा मिला।

विख्यात जर्मन कवि गेटे ने जब शाकुन्तल का अनुवाद पढ़ा, तो वे आनन्दित होकर नाचने लगे। अपना प्रसिद्ध 'फाउस्ट' नाटक लिखते समय गेटे को कालिदास के शाकुन्तल की याद आयी और उसने उस नाटक के आरम्भ में संस्कृत नाटकों जैसी ही प्रस्तावना लिखी। दूसरे जर्मन कवि शिलर ने मेघदूत का अनुवाद पढ़कर अपने "Maria stuart" काव्य में मेघ-सन्देश की रमणीय कल्पना ले ली। उस काव्य में स्कॉटलैण्ड की रानी कारागार से मेघ द्वारा अपने देश के प्रति सन्देश भेजती है।

१९वीं शताब्दी में यूरोपीय विद्वानों का वैदिक वाङ्मय के साथ परिचय हुआ। तब से

उन लोगों ने वेद-विषयक शोधकार्य आरम्भ किया। वैदिक काल-निर्णय, वेदकालीन सामाजिक स्थिति, वैदिक भाषा का स्वरूप आदि अनेक विषयों पर यूरोपीय विद्वानों ने लेखन शुरू किया। प्राचीन संस्कृत साहित्य पर शोध करते समय यूरोपीय पण्डितों ने कई स्थानों पर जो गलत सिद्धान्त स्थापित करने के प्रयास किये, उनका खण्डन करने का कार्य भी उसी काल के भारतीय विद्वानों ने किया। यूरोपवासीय विद्वानों के अध्ययन तथा शोध-कार्य से आधुनिक भारतीय विद्वानों को भी संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन का एक नया दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। आज यूरोप के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन हो रहा है और संस्कृत का अध्ययन करनेवाले छात्रों की संख्या क्रमशः बढ़ रही है। आज तक यूरोप की प्रायः सभी भाषाओं में सारे प्रमुख संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिनके अनुवाद हिन्दी, मराठी आदि भारतीय भाषाओं में तो नहीं हो सके हैं, परन्तु उनके अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रेंच अनुवाद उपलब्ध हैं।

यूरोप के कुछ विख्यात संस्कृतज्ञ

यहाँ यूरोप के कुछ विख्यात संस्कृतज्ञों का परिचय देना भी आवश्यक हो जाता है। मॉरिस ब्लूमफील्ड ने Vedic Concordance और Rigveda Repetitions नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। कोनिस बग्र पीटर वॉन बोल्हेन ने भर्तृहरि के शतकों पर शोध किया तथा कालिदास के 'ऋतुसंहार' का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। सेण्ट पीटर्सबर्ग के ओटो बोथलिंग ने पाणिनीय व्याकरण पर गवेषणा की।

बर्लिन के बनहार्ड ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर शोध किया। लिपजिक् विश्वविद्यालय के हरमन ब्रोखोस ने सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का जर्मन अनुवाद किया। जॉर्ज बुल्हेर १८६३ से १८८० तक बम्बई सरकार के एक अधिकारी थे। इन्होंने Laws of Manu तथा Indian Brahmi Alphabet and Indian Paleography नामक ग्रन्थ लिखे। पेरिस के यूजिन बर्नोफ ने भागवत पुराण का फ्रेंच अनुवाद किया। उट्रेच के W. Caland नामक विद्वान ने जैमिनीय ब्राह्मण और आपस्तम्भ श्रौतसूत्र पर गवेषणा की। कोनिसबर्ग के रुडॉल्फ ओटो फ्रॅन्के ने संस्कृत तथा पाली का तुलनात्मक विवेचन किया। पीसा के फर्डिनण्डो बल्लोरी फिलिपी ने वासवदत्ता और चारुदत्त नाटकों का इटालियन अनुवाद किया। कोनिस्बर्ग के रिचर्ड गार्ब ने सांख्य तत्त्वज्ञान पर शोध किया।

पॅरिस के ओलिवर लॅकोम्ब ने शंकर और रामानुज के तत्त्वज्ञान की तुलनात्मक गवेषणा की और रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया। न्यूयार्क के राबर्ट अर्नेस्ट ह्यूम ने १३ प्रमुख उपनिषदों का अनुवाद किया और Treasure-house of Living Religions नामक अति महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। सेण्ट पीटर्सबर्ग के रुडाल्फ रॉय ने Sanskrit Worterbuch नामक ७ ग्रन्थ और अथर्ववेद संहिता की समीक्षा लिखी। कलकत्ता के रायल एशियाटिक सोसायटी के संस्थापक सर विलियम जोन्स, ओल्डेनबर्ग, रेनो, कोलब्रुक, सिल्व्हन लेवी, पॉल डायसन, मैक्समूलर, कीथ, बेबर, रुडविग्, विंटरनिट्ज, जैकोबी आदि यूरोप के संस्कृत विद्वानों के नाम भारत में सर्वविदित हैं।

यूरोपीय विदुषियों में Mrs. C. A. L. Rhys Davis, Miss Tyra di Kleen, Mrs. Else Ludress आदि महिलाओं द्वारा संस्कृत गवेषणा विषयक किये गये कार्य अत्यन्त प्रशसनीय हैं।

सोवियत संघ में

आजकल सोवियत संघ में भी संस्कृत का अध्ययन एवं शोध का कार्य विशेष प्रगति पर है। पाणिनीय सस्कृत व्याकरण के परिचय से आधुनिक तुलनात्मक व्याकरण-शास्त्र के विकास में काफी सहायता मिली है, यह जानने के बाद रूसी विद्वानों की संस्कृत के प्रति अभिरुचि बढ़ी। मास्को, लेनिनग्राद, और तबिलीसी विश्वविद्यालयों में तथा सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान में संस्कृत का अध्ययन हो रहा है। मास्को विश्वविद्यालय के पैटरसन नामक विद्वान ने, 'प्राचीन भारतीय तथा भारत-यूरोपीय अन्य भाषाओं में सामान्य भूतकालिक क्रिया की बनावट' तथा 'सस्कृत में क्रियापद' विषयों पर प्रबन्ध लिखे हैं। बाद में उन्होंने 'संस्कृत में कर्मकारक के प्रयोग' 'द्वन्द्व समास' तथा 'ऋग्वेद में प्रयुक्त क्रियाओं का वर्गीकरण' विषयों पर शोध किये।

लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में मीनायेव, ओबेरमिल्लर, ओल्डेनबर्ग, श्वेरवात्स्कोई, बरान्निकोव्ह, काल्यानोव आदि विद्वानों ने संस्कृत की सर्वांगीण सेवा की है। सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान में महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र का रूसी अनुवाद किया गया। टोकिओ के डाक्टर सोदा टाक्की बताते हैं, "जापान के समस्त विद्यालयों में संस्कृत का अनिवार्य रूप से अध्ययन होता है और जापान के तीन हजार से भी अधिक विद्वान संस्कृत की विविध शाखाओं की सेवा में रत हैं।"

'अमेरिकन रिपोर्टर' के कथनानुसार आजकल अमेरिका के हार्वर्ड, येल, कोलम्बिया कौनेल, जोन्स, हॉप्किन्स, शिकागो, पेनसिल्वानिया तथा वाशिंग्टन के विश्वविद्यालयों में संस्कृत विभाग की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा है। अमेरिकन कांग्रेस के पुस्तकालय में चार लाख से भी अधिक सस्कृत के हस्तलिखित तथा प्रकाशित ग्रन्थों का सग्रह सुरक्षित रखा हुआ है।

इस प्रकार पिछले लगभग डेढ़ हजार वर्षों से लेकर आज तक संस्कृत भाषा और उसमें निहित प्रभावशाली विद्या के प्रति संसार के समस्त राष्ट्रों का प्रबल आकर्षण बना हुआ है। स्वतंत्र भारत में संस्कृत भाषा तथा साहित्य के अध्ययन पर और भी अधिक व्यापक और मौलिक रूप से सम्पन्न करने की दिशा में ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि उसके अभाव में भारत अपनी मूलभूत अस्मिता को पहचान नहीं सकता और विश्व-संस्कृति भी भारत के विशिष्ट योगदान से वंचित रह जायेगी। □

स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण (७)

भगिनी निवेदिता

(इंग्लैण्ड में जन्मीं कुमारी मार्गरेट नोबल ने लंदन में स्वामीजी के व्याख्यान सुने और उनके विचारों से प्रभावित होकर वे भारत आयीं। उन्होंने अपनी एक लघु पुस्तिका में बताया है कि किस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें प्रशिक्षण देने के बाद, भारतमाता की सेवा में निवेदित किया। प्रस्तुत है इसी भावभीने विवरण का हिन्दी अनुवाद – सं.)

८. पाण्ड्रेन्थान का मन्दिर

व्यक्ति – स्वामी विवेकानन्द और धीरा माता, जया तथा निवेदिता आदि यूरोपियनों की एक टोली
स्थान – काश्मीर
काल – १६ से १९ जुलाई तक

१६ जुलाई। अगले दिन एक छोटी नौका में स्वामीजी के साथ उनकी एक शिष्या को जाने का मौका मिला। नाव की गति के साथ-ही-साथ वे भी एक एक कर रामप्रसाद के भजन गाते जा रहे थे और बीच बीच में वे किसी पद का अनुवाद भी कर देते थे –

माँ, मैं तुझे पुकारता ही रहूँगा।
क्योंकि माँ यदि पीटती भी है
तो शिशु 'माँ! माँ!' कहकर ही चिल्लाता है।

** ** **

भले ही मैं तुझे देख नहीं पाता,
परन्तु मैं मातृहीन नहीं हूँ!
अब भी मैं 'माँ! माँ!' कहकर पुकारता हूँ!

और फिर एक नाराज बालक के हठपूर्ण स्वाभिमान के सुर में कुछ गाने लगे, जिसकी अन्तिम पंक्ति थी – "मैं उन पुत्रों में से नहीं हूँ, जो किसी अन्य स्त्री को 'माँ' कह दे!"

१७ जुलाई। अगले दिन वे धीरामाता की नौका में आकर 'भक्ति' पर बोलने लगे। सर्वप्रथम तो उनका हर-गौरी के एकत्व विषयक वह विचित्र हिन्दू भाव था। उन शब्दों को दुहराया जा सकता है, परन्तु उस वाणी के अभाव में वे कितने निर्जीव प्रतीत होते हैं! और फिर सुरम्य श्रीनगर का वह अद्भुत परिवेश, लम्बे पहाड़ी पीपल तथा सुदूर दृश्यमान चिर-तुषारराशि! उन महान पर्वतों के पादप्रदेश से थोड़ी दूरी पर स्थित उस नदी की घाटी में उन्होंने आवृत्ति करके हमें बताया कि किस प्रकार महादेव ने अर्धनारीश्वर रूप लिया –

कस्तूरिकाचन्दनलेपनायै श्मशानभस्माठविलेपनाय।
सत्कुण्डलायै फणिकुण्डलाय नमः शिवायै च नमः शिवाय।
मन्दारमालापरिशोभितायै कपालमालापरिशोभिताय।
दिव्यम्बरायै च दिगम्बराय नमः शिवायै च नमः शिवाय।
अम्भोधरश्यामलकुन्तलायै विभूतिभूषाङ्गजटाधराय।
जगज्जनन्यै जगदेकपित्रे नमः शिवायै च नमः शिवाय।

और इसके तुरन्त बाद ही इसी भाव के दूसरे रूप में जाकर वे गाने लगे –

भगवान ने कृष्ण तथा राधा का रूप लिया है –
प्रेम का ज्वार सहस्त्रों धाराओं में बहा जा रहा है;
जिसे जितना चाहिए आकर ले जाओ ।
प्रेम की यह धारा और ये तरंगें
प्राणों को आनन्द से मतवाला बना देती हैं ।

वे इसी भाव में इतने विभोर हो गये कि उनका जलपान तैयार होकर भी काफी देर तक पड़ा रहा और आखिरकार वे अनिच्छापूर्वक यह कहकर चले गये, "जब भक्ति आदि चल रहा है, तो फिर भोजन की क्या आवश्यकता?" और शीघ्र ही लौटकर उसी विषय पर चर्चा में लग गये । परन्तु सम्भवत: तभी या किसी अन्य समय उन्होंने कहा था कि जिनसे उन्हें कार्य की अपेक्षा रहती थी, उनके सामने वे राधा-कृष्ण का प्रसंग नहीं छेड़ते । महादेव शिव ही कठोर तथा निष्ठावान कर्मियों का निर्माण करते हैं और कर्मी को उन्हीं के चरणों में समर्पित होना चाहिए ।

अगले दिन उन्होंने हमें श्रीरामकृष्ण की एक अद्भुत उक्ति सुनायी, जिसमें दूसरों पर चर्चा करनेवालों को उनकी मधु या व्रण चुनने की प्रवृत्ति के अनुसार मधुमक्खी या साधारण मक्खी कहा गया था ।

इसके बाद हम लोगों ने इस्लामाबाद की ओर प्रस्थान किया, जो वस्तुत: घटनाचक्र से अमरनाथ-यात्रा में परिणत हुआ ।

१९ जुलाई । पहले दिन अपराह्न के समय हमने झेलम नदी के तट पर एक जंगल के बीच में स्थित चिर-अन्वेषित पाण्ड्रेन्थान (पाण्ड्रेस्थान या पाण्डवों का स्थान) नामक मन्दिर ढूँढ़ निकाला ।

वह काइयों की मोटी तह से ढँके हुए तालाब के बीच स्थित भूरे चूने के भारी पत्थरों से बना एक छोटा-सा प्राचीन देवालय था । इस मन्दिर में एक छोटा कमरा और चारों दिशाओं में खुलनेवाले चार दरवाजे थे । बाहर से देखने में यह एक चबूतरे पर बैठाया हुआ सामने से खुले हुए मंच के पर ऊपर की ओर छोटा होता हुआ शिखरहीन पिरामिड के समान बना था, जिस पर एक झाड़ी उग आयी थी । इसके स्थापत्य में त्रिपत्र तथा त्रिभुजाकार तोरणों को एक अप्रचलित ढंग से परस्पर सीधे लिंटल में मिला दिया गया था । मन्दिर बड़ी मजबूती से बना था और भारी अलंकरण के कारण निर्माण-पद्धति के भेद ढँक गये थे ।

वन के बीच में स्थित तालाब के किनारे पहुँचने के बाद उस छोटे-से मन्दिर के अन्दर जाकर भीतरी सज्जा को देखने में असमर्थ होकर हम सभी बेहद हताश थे । कई संदर्शिका पुस्तिकाओं में उन्हें 'अत्यन्त क्लासिकल' अर्थात् रूप और परिष्करण में यूनानी या रोमन बताया गया था ।

परन्तु हमारे हाजी या मल्लाह एक स्थानीय व्यक्ति को ले आये, जिसने हमारे लिए एक नाव जुटा देने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया और हमारा विषाद आनन्द में परिणत हो गया । उस व्यक्ति ने काई के नीचे से एक नौका निकाली और उसमें एक जंजीर बाँधने के बाद स्वयं लगभग कमर भर पानी में उतरकर वह हमें एक-एककर तालाब के चारों ओर घुमाने लगा । इस तरह हम अपनी आकांक्षा के अनुरूप भीतर प्रवेश करने में समर्थ हुए ।

स्वामीजी के अतिरिक्त हम सभी के लिए भारतीय पुरातत्त्व की यह पहली झलक थी। अत: स्वयं देख आने के बाद उन्होंने हम लोगों को बताया कि भीतरी भाग का कैसे निरीक्षण किया जाय।

भीतरी छत के बीच एक बृहत् गोलाकार चक्र में सूर्य की मूर्ति खुदी हुई थी, जो एक चतुष्कोण में बैठायी हुई थी और उसके चारों कोने कुतुबनुमा के चार कोनों की ओर थे। फिर छत के चारों कोनों पर चार समान आकार के त्रिभुज बने हुए थे, जो आपस में मिली हुई स्त्री-पुरुषों तथा सर्पों की हल्की खुदाई की मूर्तियों के द्वारा सुन्दर ढंग से भर दी गयी थीं। दीवारों पर खाली स्थान थे, जहाँ लगता है स्तूपों की एक पाँत थी।

बाहर भी उसी प्रकार से जगह जगह खुदाई का कार्य समान रूप से बिखरा हुआ था। सम्भवत: पूर्वी द्वार के त्रिपत्री तोरण के ऊपर बुद्ध की एक सुन्दर प्रतिमा थी, जिसमें वे हाथ उठाये उपदेश की मुद्रा में खड़े थे। दोनों तरफ के खम्भों के ऊपर तक फैली वृक्ष के आसीन नारीमूर्ति खुदी हुई थी, जो काफी कुछ मिट चुकी थी। स्पष्टत: यह बुद्ध की माता मायादेवी की मूर्ति थी। बाकी तीन द्वारों के मेहराब खाली थे, परन्तु लगा कि तालाब की ओर पड़ा हुआ प्रस्तरखण्ड वहीं से गिरा हुआ है, जिस पर एक राजा की भद्दी-सी मूर्ति है; स्थानीय लोग उसे सूर्य की प्रतिकीर्ति कहते हैं। इस छोटे से मन्दिर की चिनाई का काम उत्कृष्ट था और सम्भवत: इसी कारण यह अब तक टिका हुआ है। प्रत्येक पत्थर दीवार की ईंटों के समान न होकर, स्थपति की योजना के अनुसार अलग अलग आकार में कटा हुआ है। पत्थर कोनों में घुमकर कहीं दो और कहीं तीन दीवारों के हिस्से बन गये हैं। इसी तथ्य के कारण यह भवन अत्यन्त प्राचीन और यहाँ तक कि मार्तण्ड-मन्दिर से भी प्राचीन प्रतीत हुआ। इसके निर्माण में राजगीरों की अपेक्षा बढ़इयों का काम अधिक झलक रहा था। स्वामीजी का मत था कि किसी पवित्र सोते की स्मृतिरक्षा के लिए ही इस मन्दिर का निर्माण हुआ होगा और उसी का जल इसके प्रांगण में एकत्र होकर चारों ओर दिखाई दे रहा था।

स्वामीजी के लिए यह स्थान अत्यन्त मधुर स्मृतियों का उद्दीपक था। उन्होंने काश्मीर के इतिहास को जिन चार धार्मिक कालों में बाँटा था, यह स्थान उनमें से एक – बौद्धधर्म का एक प्रत्यक्ष स्मारक था। वे चारों काल इस प्रकार थे –

(१) वृक्ष तथा सर्पपूजा का काल, जब नाग से समाप्त होनेवाले सभी सोतों का नामकरण हुआ था, यथा – वेरीनाग इत्यादि। (२) बौद्धधर्म का काल (३) सूर्यपूजा के रूप में हिन्दूधर्म का काल, और (४) इस्लाम का काल। उन्होंने हमें बताया कि स्थापत्य बौद्धधर्म का एक वैशिष्ट्य था और सौरचक्र या कमल ही इसके सामान्य अलंकरण थे। सर्पों से युक्त आकृतियाँ बौद्धों के पहले के युग का आभास देती हैं। परन्तु सूर्योपासना के काल में स्थापत्य कला काफी अवनत हो गयी थी, इसीलिए सूर्य की मूर्ति में निपुणता का अभाव है।

और इसके बाद हम वन में स्थित उस छोटे मन्दिर से विदा हुए। लगभग १८ शताब्दियों[१] पूर्व, जबकि संसार बहुत विशाल था और उसमें महान घटनाएँ हो रही थी, उस

---

१. पाण्ड्रेन्थन का अवलोकन करते समय हमें लगा कि यह कनिष्क के समय का अर्थात ई० सन् १५० का है, परन्तु मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकती कि वह इतना ही प्राचीन है। – नि.

युग के मनुष्यों के लिए इसमें कौन-सी पूज्य वस्तु थी? हम केवल अनुमान ही लगा सके, पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सके। फिर एक चीज वहाँ थी, जिसके सम्मुख हम नतमस्तक हो सके थे और वह थी उपदेशरत बुद्ध की मूर्ति। इस मन्दिर को केन्द्र में रखकर काष्ठनिर्मित एक नगर का चित्र हमारे मानस-नेत्रों के सम्मुख साकार हो उठा, जो परवर्ती काल में अग्नि से नष्ट होने के बाद लगभग पाँच मील दूर स्थानान्तरित हो गया है। और इस प्रकार एक स्वप्न तथा एक दीर्घ नि:श्वास लिए हम वृक्षों के नीचे से होकर नदी के तट पर लौट आये।

उस समय सूर्यास्त हो रहा था – बड़ा ही अद्भुत सूर्यास्त! पश्चिम की ओर के पर्वत बैंगनी रंग में झलमल कर रहे थे। और भी उत्तर में वे हिम तथा बादलों में नीलवर्ण के दिख रहे थे। आकाश हरा व पीला था और उसमें कहीं कहीं लालिमा का समावेश था – एक नीले तथा दुधिया पृष्ठभूमि में अग्निशिखा तथा नर्गिस के पीले फूलों का रंग! हम लोग खड़े होकर यह दृश्य देखने लगे और हमारा वह प्रिय तख्ते-सुलेमान निगाहों में आते ही आचार्यदेव कह उठे, "मन्दिरों के लिए स्थान-निर्वाचन में हिन्दू क्या ही प्रतिभा दिखाते हैं! वे हमेशा ही भव्य नैसर्गिक दृश्यवाले स्थानों का चयन करते हैं! देखो, इस तख्त से काश्मीर की पूरी घाटी दिखायी देती है। लाल हरिपर्वत की चट्टानें नीले जल से इस प्रकार निकल रही हैं मानो लाल मुकुट पहने एक सिंह लेटा हुआ हो। और मार्तण्ड मन्दिर के नीचे भी एक घाटी स्थित है!"

हमारी नावें वन के निकट ही लंगर डाले हुए थीं और हमने पाया कि हमारे द्वारा सद्य: अवलोकित बुद्ध के उस निस्तब्ध मन्दिर ने स्वामीजी को गहराई से अभिभूत कर दिया था। उस दिन संध्या के समय हम सभी धीरा माता के बजरे में एकत्र हुए और वहाँ हुए वार्तालाप का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है –

आचार्यदेव बता रहे थे कि ईसाई धर्म के कर्मकाण्ड बौद्धधर्म से ही उद्भूत हुए हैं, परन्तु हमारी टोली की एक जन को यह सिद्धान्त बिल्कुल भी स्वीकार्य न था।

उसने पूछा, "तो फिर बौद्ध अनुष्ठान कहाँ से आये?"

"वैदिक अनुष्ठानों से।" – स्वामीजी का संक्षिप्त उत्तर था।

पुन: प्रश्न उठा, "या फिर चूँकि यह दक्षिणी यूरोप में भी प्रचलित था, अत: क्यों हम ऐसा मान लें कि ईसाई तथा वैदिक कर्मकाण्ड – दोनों का ही कोई एक सामान्य उद्गम रहा होगा?"

"बिल्कुल नहीं"– स्वामीजी ने उत्तर दिया, "तुम यह भूल जाती हो कि बौद्धधर्म पूर्णत: हिन्दूधर्म के ही अन्तर्गत था! यहाँ तक कि जातिप्रथा पर भी आक्रमण नहीं हुआ – वैसे तब तक इतना घनीभूत नहीं हुआ था – और बुद्धदेव ने केवल आदर्श के पुन:स्थापन मात्र का ही प्रयास किया था। मनु के मतानुसार ब्राह्मण वही है जो इसी जीवन में ईश्वर को जान लेता है और बुद्ध ने इसी को यथासम्भव कार्यरूप में परिणत करना चाहा था।"

फिर प्रश्न किया गया, "परन्तु वैदिक तथा ईसाई अनुष्ठानों के बीच क्या सम्बन्ध है? वे भला एक कैसे हो सकते हैं? हमारे अनुष्ठान के मुख्य अंश के समानान्तर आपके यहाँ कुछ भी तो नहीं है!"

स्वामीजी बोले, "क्यों नहीं है ! वैदिक कर्मकाण्ड में भी तुम्हारे मास (mass) के समान ही ईश्वर को भोग निवेदित किया जाता है और हमारा प्रसाद ही तुम्हारा पवित्र सेक्रामेण्ट (Blessed Secrament) है, अन्तर केवल इतना ही इसे घुटनों के बल नहीं, बल्कि गरम देशों की प्रथा के अनुसार बैठकर निवेदित किया जाता है । तिब्बत में यह घुटनों के बल किया जाता है । इसके अतिरिक्त वैदिक अनुष्ठानों में भी धूप, दीप और संगीत है ।"

प्रश्नकर्त्री ने कुछ अनुचित-सा तर्क दिया, "परन्तु क्या इनमें कोई समान प्रार्थना भी है?" ऐसे तर्कों के उत्तर में स्वामीजी सर्वदा ही कोई ऐसा निर्भीक आपातविरोधी मत व्यक्त करते, जिसमें कोई नवीन तथा अपूर्वकल्पित सामान्यीकरण का तत्त्व निहित रहता था ।

इस प्रश्न पर उन्होंने तीक्ष्ण प्रहार किया, "नहीं! और वह ईसाई धर्म में भी सदा से नहीं था! यह शुद्ध प्रोटेस्टेण्ट प्रथा है और प्रोटेस्टेण्ट लोगों ने मुसलमानों से, सम्भवत: मूर जाति के प्रभाव से ग्रहण किया है ।

"इस्लाम ही एकमात्र ऐसा धर्म है, जिसने पुरोहिती भाव को पूर्णत: समाप्त कर दिया । प्रार्थना में नेतृत्व करनेवाला लोगों की ओर पीठ करके खड़ा होता है और सामने की वेदी से केवल कुरान का ही पाठ किया जा सकता है । प्रोटेस्टेण्ट धर्म इसी का अनुकरण है ।

"यहाँ तक कि तुम्हारे टॉन्सर (tonsure) की प्रथा भी हमारे यहाँ मुण्डन के रूप में प्रचलित थी । मैंने एक चित्र देखा है, जिसमें जस्टीनियन लोग दो साधुओं के हाथ से दिव्य-नियम स्वीकार कर रहे थे और उन साधुओं का मस्तक पूर्णत: मुण्डित था । बुद्ध के पूर्व भी हिन्दू धर्म में संन्यासी और संन्यासिनी दोनों ही हुआ करते थे । यूरोप को थिबेउड[२] से अपने साधु-संघों की प्राप्ति हुई ।"

प्रश्नकर्त्री – "तो फिर आप कैथॅलिक कर्मकाण्ड को आर्यन मानते हैं !"

स्वामीजी – "हाँ, मेरा विश्वास है कि लगभग पूरा ईसाई धर्म ही आर्यन है । मेरे मन में आता है कि ईसा कभी पैदा ही नहीं हुए थे । क्रीट द्वीप के पास वह स्वप्न[३] देखने के बाद से ही मेरे मन में यह सन्देह बना हुआ है । सिकन्दरिया में भारतीय तथा मिस्रदेशीय भावों का मिलन हुआ और वह यहूदी तथा हेलेनिक भावों से अनुरंजित होकर विश्व में ईसाई धर्म के रूप में प्रचारित हुआ ।

---

२. स्टैसिउस द्वारा ईसा की पहली शताब्दी में रचित लैटिन काव्य । थिब्स प्राचीन यूनान के एक भाग की समृद्ध राजधानी थी, इसके सिंहासन के इच्छुक दो भाइयों के बीच हुआ युद्ध ही इस ग्रन्थ का कथानक है।

३. जनवरी १८९७ में भारत लौटते समय नेपल्स से पोर्टसईद की यात्रा करते समय स्वामीजी के स्वप्न में एक दाढ़ीवाले वृद्ध ने प्रगट होकर कहा, "यह क्रीट द्वीप है ।" और उन्होंने द्वीप के विशेष स्थान की ओर इंगित किया ताकि वे बाद में उसे पहचान सकें । आगे उन्होंने बताया कि ईसाई धर्म इसी क्रीट द्वीप में पैदा हुआ था और इस सन्दर्भ में उन्होंने दो यूरोपीय शब्द बताये, जिनमें से एक संस्कृत से उदभूत थेरापुटे (Therapeutae) था । स्थविर या थेरा बौद्ध संन्यासी को कहते हैं और पुटे संस्कृत के पुत्र शब्द का अपभ्रंश है । इस प्रकार स्वामीजी को समझाया गया कि ईसाई धर्म बौद्ध प्रचारकों द्वारा ही प्रादुर्भूत हुआ है । उस वृद्ध ने धरती की ओर संकेत करते हुए यह भी कहा, "प्रमाण यहाँ हैं, खोदने पर मिलेंगे । निद्राभंग होने पर इसे एक असाधारण स्वप्न समझकर स्वामीजी उठ गये और जहाज के डेक पर गये । वहाँ अपने पहरे के कार्य से लौटते एक अधिकारी से उनकी भेंट हुई । स्वामीजी ने पूछा, "कितने बजे है?" उत्तर मिला, "ठीक आधी रात हुई है ।" उन्होंने फिर पूछा, "इस समय हम कहाँ हैं?" तो यह उत्तर सुनकर वे विस्मय में डूब गये, "क्रीट से पचास मील दूर । (अगले पृष्ठ पर जारी)

"जैसा कि तुम जानते हो, बाइबिल में संकलित प्रेरितों के कार्य तथा पत्रावली (Acts and Epistles) सुसमाचारों (Gospels) से प्राचीन हैं और सेण्ट जॉन मिथ्या कल्पना मात्र हैं। केवल एक ही व्यक्ति के बारे में हम नि:सन्दिग्ध हैं और वे है सेण्ट पॉल, परन्तु वे भी प्रत्यक्षद्रष्टा नहीं थे। और जैसा कि उन्होंने स्वयं ही, "येन-केन-प्रकारेण आत्माओं का उद्धार"– कहकर क्या नहीं बताया है कि वे छल करने में भी सक्षम हैं?

"नहीं ! धर्माचार्यों में केवल बुद्ध तथा मुहम्मद ही स्पष्ट ऐतिहासिक सत्ता के रूप में दण्डायमान हैं; क्योंकि सौभाग्यवश अपने जीवनकाल में उन्हें मित्रों के साथ ही साथ शत्रु भी प्राप्त हुए थे। कृष्ण के विषय में मुझे सन्देह है कि सम्भवत: एक योगी, एक गोपालक और एक महान राजा के एक साथ मिलाकर हाथ में गीता लिये हुए एक नयनाभिराम मूर्ति की रचना कर दी गयी है।

"रेनॉ (Renan) द्वारा लिखित ईसा की जीवनी तो असार फेन मात्र है। स्ट्रास (Strauss) से उसकी तुलना नहीं हो सकती, जो सच्चा पुरातत्त्वविद है। ईसा के जीवन की दो चीजें उसे स्वयं में जीवन्तता प्रदान करती हैं – पहली तो व्याभिचार में पकड़ी गयी महिला, जो साहित्य की सर्वाधिक सुन्दर कथा है और दूसरी कुएँ के पास खड़ी वह नारी।

"इस परवर्ती घटना की भारतीय जीवन के साथ कितनी अद्भुत संगति है ! एक महिला ने पानी लेने आकर देखा कि कुएँ के किनारे एक पीतवस्त्रधारी साधु बैठे हैं। वे उससे पीने को पानी माँगते हैं। उसके बाद उसे उपदेश देते हैं, उसके मन की बातें बता देते हैं, आदि आदि। केवल एक भारतीय कहानी में ही ऐसा उपसंहार होता है कि जब वह ग्रामवासियों को भी उन्हें दिखाने तथा सुनाने के लिए बुलाने जाती है, तो साधु मौका देखकर वन में पलायन कर जाते हैं !

"कुल मिलाकर मुझे लगता है कि प्राचीन रब्बी हिलेल ही ईसा के उपदेशों के रचयिता हैं और नाजरीन नामक एक अत्यन्त प्राचीन अल्पज्ञात यहूदी सम्प्रदाय ने सेण्ट पॉल के द्वारा अनुप्राणित होकर सहसा एक पौराणिक व्यक्तित्व को उपासना के केन्द्र के रूप में प्रस्तुत किया।

ईसा का पुनरुत्थान (Resurrection) वासन्ती दाह-प्रथा (Spring Cremation) का ही नवीन संस्करण मात्र है। वैसे केवल धनाढ्य यूनानी तथा रोमन लोगों का ही दाह संस्कार होता था, और नयी सूर्य-उपासना ने उन कुछ लोगों के बीच से भी इस प्रथा को उठा दिया।

"परन्तु बुद्ध! और केवल बुद्ध ही पृथ्वी पर रहनेवालों में महानतम थे। उन्होंने अपने लिए कभी श्वास तक नहीं लिया। सर्वोपरि उन्होंने कभी पूजा स्वीकार नहीं की। उन्होंने

इस स्वप्न ने आचार्यदेव को जिस गहराई से प्रभावित किया था, उस पर वे स्वयं ही अपने पर हँस पड़ते थे, परन्तु वे कभी इसे विस्मृत नहीं कर पाते थे। दो शब्दों में से एक जो उन्हें भूल गया था, यह बड़े ही खेद की बात है। स्वामीजी ने यह स्वीकार किया कि यह स्वप्न देखने के पूर्व उनके मन में कभी ईसा मसीह के व्यक्तित्व की ऐतिहासिक सत्यता के विषय में सन्देह नहीं उठा था। तथापि हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू दर्शन के मतानुसार भाव की परिपूर्णता ही महत्वपूर्ण है, न कि उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता। एक बार स्वामीजी ने एक बालक के रूप में श्रीरामकृष्ण से इसी विषय में पूछा था। इस पर उनके गुरुदेव ने उत्तर दिया था, "तुम ऐसा क्यों नहीं सोचते कि जो लोग इन चीजों का आविष्कार कर सकते थे, वे उसी की प्रतिकृति थे?"

कहा था, "बुद्ध एक मनुष्य नहीं, अपितु एक अवस्था का नाम है। मैंने द्वार पा लिया है, तुम सभी भीतर चले जाओ!"

"वे आम्बपाली के घर भोजन करने गये, जिसे पापिनी समझा जाता था। उन्होंने एक अछूत के घर भोजन किया, कि इससे उनका शरीर चला जायगा और उन्होंने मृत्युशय्या से उसे अपनी महामुक्ति के लिए धन्यवाद का सन्देश भेजा। सत्यलाभ के पूर्व भी वे एक छोटी-सी बकरी के लिए लिए प्रेम तथा करुणा से अभिभूत हुए थे ! तुम्हें याद होगा कि कैसे वे राजपुत्र तथा संन्यासी होकर भी, यदि राजा उस बकरी को यज्ञ में बलि देने से विरत हो जाय तो वे इसके बदले में अपना सिर देने को भी प्रस्तुत थे और राजा ने भी कैसे उनकी करुणा से विस्मित होकर उसे मुक्त कर दिया था? यौक्तिकता तथा सहृदयता का ऐसा अद्‌भुत मेल अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आया। निश्चय ही, निश्चय ही उनके जैसा दूसरा कोई नहीं हुआ !" **□(क्रमशः)□**

मन के कैदी

स्वामी सत्यरूपानन्द

बात सुनने में कुछ अटपटी और अजीब-सी लगती है 'मन के कैदी' भला मन का भी कोई कैदी हो सकता है ?

जी हाँ, बात अजीब और अटपटी अवश्य लगती है, किन्तु है सच। हममें से अधिकाश विभिन्न अवसरों पर और परिस्थितियों में अपने मन के कैदी हो जाते हैं। खाँसी हो गई है, डॉक्टर दवा दे रहे हैं किन्तु खाँसी कम नहीं हो रही है। डॉक्टर पूछते हैं – क्या आप धूम्रपान करते हैं ? आपका उत्तर हाँ में है।

डॉक्टर कहते हैं धूम्रपान न कीजिये अन्यथा दवा से लाभ न होगा। आप भी सहमत होते हैं। किन्तु धूम्रपान की तलब लगते ही न चाहकर भी हम पुनः धूम्रपान कर लेते हैं। हम अपनी आदत से विवश हैं।

कैदी विवश ही तो होता है। वह पराधीन है विवश है इसीलिये तो वह कैदी है। हम भी अपने मन के सामने विवश हैं। स्वाधीन नहीं हैं। तब क्या हम मन की कैद में नहीं हैं ?

यह एक उदाहरण हुआ। अपने भीतर झाँकने पर ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे जहाँ हम मन के कैदी हैं।

और कैदी कभी सुखी नहीं हो सकता – 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'।

सुखी होने के लिए, जीवन में सफल होने के लिए, हमें मन की कैद से छूटना होगा। मुक्त और स्वाधीन होना होगा। स्वाधीनता में, मुक्ति में ही सुख है। और जहाँ सुख है वहीं शान्ति है।

मन का कारागार कहीं बाहर नहीं है। वह हमारे भीतर ही है। मन ने हमें भीतर से बाँध रखा है। हम अपने मन के कारागार में ही कैद हैं। मन की कैद से छुड़ाकर हमें मुक्त

करनेवाली शक्ति भी हमारे भीतर ही है। उस शक्ति का नाम है इच्छा शक्ति। प्रबल और दृढ़ इच्छा शक्ति ही हमें मन की कैद से छुड़ा सकती है। हमें अपनी इस इच्छा शक्ति का आह्वान करना होगा। उसे जगाना होगा। सक्रिय करना होगा। एक बार जाग्रत और सक्रिय हो जाने पर यह शक्ति हमें मन के कारागार से मुक्त कर देगी।

अपनी इच्छा शक्ति को जाग्रत करने का प्रथम सोपान है मन की कैद से, मन की दासता से मुक्त होने की तीव्र इच्छा। एक बार यदि मन की दासता से मुक्त होने की व्याकुलता जाग उठी तो मानो मुक्ति का राजमार्ग ही खुल जाता है।

मुक्ति की इच्छा होते ही दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि अपने मन की कैद से अवश्य मुक्त होऊँगा। और शीघ्र ही मुक्त होऊँगा। संकल्प, दृढ़ संकल्प मन की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र और एकाग्र करता है। दृढ़ सकल्प के द्वारा मन की शक्तियों का ध्रुवीकरण होता है। ध्रुवीकृत मन की शक्तियाँ अजेय होती हैं। जिस व्यक्ति के मन की शक्तियाँ केन्द्रित हो गई हैं अर्थात जिसका मन संयत और एकाग्र है, वह व्यक्ति प्रबल इच्छा शक्ति सम्पन्न हो उठता है। ऐसे व्यक्तियों को उसका मन और अधिक दिनों तक दासता में नहीं रख सकता।

ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही मन की कैद से मुक्त हो जाता है। एक बार किसी एक क्षेत्र में भी मन की कैद से मुक्त होने पर व्यक्ति का आत्मविश्वास शत गुना बढ़ जाता है। यह बढ़ा हुआ आत्मविश्वास व्यक्ति को विभिन्न क्षेत्रों में मन की दासता से मुक्त करता जाता है। मन की दासता से मुक्त होने पर ही हमें सच्चे स्वरूप का ज्ञान होता है, उसका बोध होता है। अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान, उसका बोध ही परम सुख, परम शान्ति का आगार है।

आइये मन की कैद से छूटने का दृढ़ संकल्प लें तथा उस दिशा में आज और अभी कार्य करना आरम्भ करें। □

हिन्दू धर्म का वैशिष्ट्य

ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल हमारे धर्म को छोड़कर ससार में प्रत्येक अन्य धर्म किसी-न-किसी धर्मप्रवर्तक या धर्म-प्रवर्तकों के जीवन से ही अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। ईसाई धर्म ईसा के, इस्लाम धर्म मुहम्मद के, बौद्ध धर्म बुद्ध के, जैन धर्म जिनों के और अन्यान्य धर्म अन्यान्य व्यक्तियों के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु हमारा धर्म व्यक्तियों पर आधारित न होकर सनातन सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित है।

— *स्वामी विवेकानन्द*

हमारी शिक्षा (७)

स्वामी निर्वेदानन्द

(पिछले हज़ार वर्षों की दासता के दौरान भारत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली ध्वस्त हो गयी थी और उसके स्थान पर लॉर्ड मैकाले द्वारा परिकल्पित तथा ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रणाली ही कमो-बेश आज तक चली आ रही है। स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों के आधार पर रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने हमारे शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शों पर एक लेखमाला लिखी थी, जो संघ के अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के १९२८ ई. के छः अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। बाद में उसके परिवर्धन तथा सम्पादन के उपरान्त उसे एक पुस्तक का रूप दिया गया। १९४५ ई. में प्रथम प्रकाशन के बाद से अब तक यह ग्रन्थ शिक्षा-विषयक एक महत्वपूर्ण कृति बनी हुई है। 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः इसका एक अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

१०. मूलभूत चीजें (जारी)

"दास के समान *किया हुआ सर्वोच्च कार्य भी अपकर्ष को प्राप्त होता है।*
मेरे मतानुसार किसी दूसरे के अधिनायकत्व में की गयी कोई भी उन्नति मूल्यहीन है।"
— *स्वामी विवेकानन्द*

भाषा

आधुनिक शिक्षाशास्त्र की यह स्पष्ट धारणा है कि बालक की क्षमताओं को न्यूनतम बाधा के पथ से ही अभिव्यक्त किया जाना चाहिए। हर कदम सहज, रोचक तथा स्वाभाविक हो। उसके पथ में ऐसा कुछ भी न हो, जिसके द्वारा बालक में ऊब पैदा होने की सम्भावना हो। क्योंकि वह निश्चित रूप से उसकी क्षमताओं के स्वाभाविक विकास को कुण्ठित करते हुए एक अनावश्यक दबाव के द्वारा उसके मस्तिष्क को हानि पहुँचायेगा। एक बालक, जिसे शिक्षा में प्रगति के पूर्वशर्त के रूप में एक विदेशी भाषा सीखनी पड़ती है, उसे एक ऐसे ही अप्रिय दबाव से होकर गुजरना पड़ता है। ऐसी अस्वाभाविक माँग निश्चित रूप से उसकी योग्यताओं के विकास को अवरूद्ध करती है, उसकी मानसिक ऊर्जा का काफी भाग बरबाद करती है और उसकी बुद्धि की धार को भोथरा कर देती है। एक औसत बालक के लिए शिक्षा की ऐसी प्रक्रिया एक अत्यन्त कठोर तथा अरुचिकर प्रतीत होगी और प्राय: एक हौआ जैसा लगेगा।

भारत में अब तक प्रचलित शिक्षा-प्रणाली पढ़ाई तथा परीक्षा के माध्यम के रूप में एक विदेशी भाषा पर आधारित रही है। बाद में भले ही उसमें यत्र-तत्र किंचित् परिवर्तन कर लिए गये हों, परन्तु अब भी यदि किसी को अपने शैक्षणिक जीवन में सफलता प्राप्त करनी हो, तो उसे काफी बचपन से ही इस विदेशी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेना पड़ता है। यह निश्चय ही एक ऐसी निरर्थक माँग है, जो आधुनिक समस्त शिक्षाशास्त्रीय मतों का विरोधी है। यह सोचकर ही हमें सिहरन हो आती है कि इस अव्यावहारिक प्रक्रिया में कितने विशाल परिमाण में राष्ट्रीय ऊर्जा तथा प्रतिभा का क्षय हो रहा है।

इस पद्धति को बोरिया-बिस्तर के साथ विदा कर देना होगा। हम सदा के लिए यह जान लें कि इस घातक पद्धति से बढ़कर क्षतिकारक बालक के लिए और कुछ भी नहीं हो सकता। यह न केवल उनके मस्तिष्क को हानि पहुँचाता है, उनके बौद्धिक विकास को भी कुण्ठित कर देता है और विदेशी शब्दों तथा व्याकरण को जबरन ठूँसने की प्रक्रिया न केवल उसकी मौलिक चिन्तन की क्षमता का विनाश कर डालती है; अपितु यह एक विदेशी जाति के सांस्कृतिक आक्रमण का सहज शिकार बनाने में भी सहायक होता है। भारत में राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से, कभी हमारे राजनीतिक आक्रान्ताओं द्वारा आरम्भ की गयी इस शिक्षा-पद्धति से बढ़कर क्षतिकारक और कुछ भी नहीं हो सकता। वैसे इस प्रणाली के प्रारम्भ-कर्ताओं का उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, परन्तु इस बात से कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह शिक्षा देश की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक जीवन के लिए निश्चित रूप से एक अभिशाप सिद्ध हुई है।

किसी भी विदेशी भाषा के लिए एक स्वाभाविक पूर्वाग्रह को तिलांजलि दे डालने का हमारे लिए यही उपयुक्त समय है। अपनी खुद की मातृभाषा ही सहज शिक्षा का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। इतना ही नहीं, बल्कि स्कूली शिक्षा के अन्त तक हमारा किसी भी विदेशी भाषा से नाता न हो। छात्रों को अपनी भाषा तथा साहित्य को भलीभाँति जानने और साथ ही हाई स्कूल के सभी विषयों की अच्छी सामान्य जानकारी प्राप्त करने के लिए पर्याप्त समय मिलना चाहिए। इससे निश्चित रूप से उनकी क्षमताओं का स्वाभाविक विकास होगा और उनकी बौद्धिक शक्ति में वृद्धि करेगा। बड़े आनन्द की बात है कि हमारी वर्तमान सरकार इस विषय में सचेत है और उसने सही दिशा में आगे बढ़ना आरम्भ कर दिया है।[१]

जैसा कि विकसित देशों में होता है, हाईस्कूल की पढ़ाई समाप्त होने के बाद एक संक्षिप्त पाठ्यक्रम के माध्यम से किसी विदेशी भाषा का एक कार्यकारी ज्ञान दिया जा सकता है। अतएव बचपन या कौमार्य से ही एक आवश्यक तथा अपरिहार्य उपलब्धि के रूप में अच्छी अँगरेजी सीखने के विषय को ज्यादा तूल नहीं दिया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भारतीय विद्यार्थियों को अपने हाईस्कूल कोर्स के दौरान ही अपनी वह प्राचीन शास्त्रीय भाषा भी सीखनी चाहिए, जो उनकी अपनी भाषा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हो। यह संस्कृत अथवा अरबी हो सकती है। इस सम्बद्ध प्राचीन भाषा से ही छात्र की अपनी मातृभाषा का विकास होने के कारण, इसका अच्छा ज्ञान निश्चित रूप से उसकी अपनी भाषा पर भी अधिकार प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त यह छात्रों को उनके सांस्कृतिक विरासत के घनिष्ठ सम्पर्क में भी लायेगा। उदाहरण के लिए हिन्दुओं का धर्म संस्कृत ग्रन्थों में निबद्ध है। संस्कृत सीखे बिना हिन्दू अपने शास्त्रों का अध्ययन नहीं कर सकेंगे। उनके समस्त धार्मिक तथा सामाजिक अनुष्ठानों में संस्कृत स्तोत्रों तथा मंत्रों के आवृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। हिन्दू जब तक संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त नहीं करते, तब तक निश्चित रूप से उनकी शिक्षा अधूरी रह जायेगी। उस शिक्षा का सांस्कृतिक महत्व कम होगा, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में उसका कोई मूल्य नहीं होगा। एक मुसलमान विद्यार्थी के मामले में यही बात अरबी भाषा के विषय में कही जा

१. भारत के सभी प्रदेशों ने कम-से-कम स्कूली स्तर तक की शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनी स्थानीय भाषाओं को स्वीकृति दे दी है।

सकती हैं । अत: यदि सम्बद्ध प्राचीन भाषा को स्कूल के पाठ्यक्रम से हटा दिया जाता है या उसे केवल एक वैकल्पिक विषय के रूप में रखा जाता है, तो यह मूढ़ता की चरम सीमा होगी । तालिका में इसे एक अनिवार्य विषय के रूप में रखना होगा ।

यह भी देखना होगा कि हमारी शिक्षा हमारे परिवेश से सम्बद्ध हो । इसके लिए हमें अपनी खुद की भाषा, अपनी प्राचीन भाषा और साथ ही एक सामान्य राष्ट्रीय भाषा पर भी अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता होगी । ऐसा तभी सम्भव है, जब हम प्राथमिक तथा हाईस्कूल के पाठ्यक्रम से किसी भी विदेशी भाषा को निकाल डालें और इस अस्वाभाविक कार्य में खपायी गयी ऊर्जा को बचाकर, उसे अपने लिए अन्तरंग रूप से महत्वपूर्ण उपरोक्त तीन भाषाओं के ज्ञान में नियोजित करें ।

अनुशासन

शैक्षणिक संस्थाओं में अनुशासन को प्रभावी बनाने के लिए इसे जहाँ तक सम्भव हो, उसे स्वत:प्रेरित होना चाहिए । इसे आतंक के द्वारा लागू करने की अपेक्षा, परिवेश और शिक्षकों के चरित्र तथा आचरण के द्वारा प्रेरित करना कहीं अधिक उत्तम होगा । निश्चय ही स्वाधीनता विकास की सर्वोत्तम शर्त है । सच्चे मनुष्यत्व का विकास सुनिश्चित करने के लिए कार्यकारी सूत्र होगा – अधिकतम स्वाधीनता तथा बाहर से न्यूनतम प्रतिबन्ध । इस कारण यहाँ तक कि छोटे बच्चों को भी यथासम्भव 'आत्म-अनुशासन, उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग तथा खेलों के स्वत:स्वीकृत नियमों के द्वारा' उनके चरित्र-निर्माण करने में सहायता करनी होगी ।

दूसरी ओर अपने बच्चों पर लादा गया कठोर अनुशासन उनके उत्साह को कुचल डालता है और उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधक होता है । यहाँ पर डॉ. माण्टेसरी को उद्धृत करना अत्यन्त प्रासंगिक होगा । वे लिखती हैं, "ऐसा बालक, जिसने स्वयं ही अपनी क्रियाओं को दिशा देना तथा अपनी इच्छा को अनुशासित करना नहीं सीखा है, एक ऐसे वयस्क में विकसित होता है, जो सहज ही दूसरों के द्वारा परिचालित होता हैं और उसे सर्वदा दूसरों के ऊपर ही निर्भरशील होना पड़ता है । जो स्कूली बालक निरन्तर डाँटा तथा निरुत्साहित किया जाता है, आगे चलकर वह अपनी शक्तियों में अविश्वास तथा भय के सम्मिश्रण की उपलब्धि कर लेता है, जिसे शर्मीलापन कहते हैं और वयस्क व्यक्ति में जो निरुत्साह तथा दब्बू या बिल्कुल भी नैतिक प्रतिरोध कर पाने की अक्षमता का रूप ले लेता है । घर तथा स्कूल – दोनों ही स्थानों पर उससे जिस आज्ञाकारिता की अपेक्षा की जाती है, वह न तो न्याय पर आधारित है और न ही युक्ति पर । ऐसी आज्ञाकारिता व्यक्ति को अन्धी शक्तियों के सामने वशीभूत हो जाने को तैयार करती है । सजा के रूप में स्कूलों में प्रचलित दोषी को सबके सामने अपमानित किये जाने की प्रथा प्राय: कटघरे की यातना के समतुल्य है और वह बालक की अन्तरात्मा को एक ऐसी लोक-धारणा के बारे में एक सनकभरी अयौक्तिक भय से परिपूर्ण कर देता है, जो स्पष्टत: अनुचित तथा गलत है । ऐसे अनुशासन तथा ऐसे ही अन्य अनेक अनुकूलनों से, छात्रों में एक स्थायी हीन भावना की सृष्टि होती है और इससे – न केवल मूर्तिपूजा – बल्कि पेशेवर नेताओं के प्रति भक्ति का भाव पैदा होता है । जैसा कि श्री ऍल्डस हक्सले कहते हैं, वस्तुत: "पारम्परिक शिक्षा श्रेणीबद्ध सैन्यवादी समाज में जीवन के लिए एक प्र शिक्षण है, जिसमें लोग अपने से बड़ों के प्रति

दयनीय रूप से आज्ञाकारी और छोटों के प्रति अमानुषिक होते हैं। प्रत्येक दास अपने नीचे के दास से कसर निकाल लेता है।" यही वस्तुत: तानाशाही प्रकार के अनुशासन का दूषित प्रभाव है, जो कि हमारे स्कूलों में खूब प्रचलित है।

अत: मनुष्यत्व का स्वस्थ तथा स्वाभाविक विकास सुनिश्चित करने के लिए, बाहर से थोपे जानेवाले ऐसे अनुशासन की जगह पर, जहाँ तक सम्भव हो हमारे छात्रों में स्वत:-प्रेरित अनुशासन की हितकर प्रणाली का प्रतिरोपण किया जाय। यह एक बड़ा ही रोचक तथ्य है कि हमारी प्राचीन शिक्षा-प्रणाली से जुड़े व्रत, शिक्षकों के चरित्र का प्रेरक उदाहरण और उसके साथ ही अन्य प्रकार के पारिवेशिक प्रभाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उस हद तक सही थे, जहाँ तक वे आत्मसंयम के लिए स्वैच्छिक प्रेरणा जगाते थे। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, वर्तमान परिस्थितियों में उस प्रणाली के पुनरुद्धार की एक तात्कालिक आवश्यकता का बोध होता है।

परीक्षा-प्रणाली

परीक्षा की वर्तमान प्रणाली बुद्धि से कहीं अधिक स्नायुओं की परीक्षा प्रतीत होती है। छात्र के भावी जीवन का निर्धारण करनेवाले कोर्स के अन्त में होनेवाली एकमात्र परीक्षा बहुतों के द्वारा एक संकट के रूप में देखी जाती है। छात्र का सारा ध्यान इसी एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है। परीक्षा के कई माह पहले से ही येन-केन-प्रकारेण इससे उत्तीर्ण हो जाना ही उसकी एकमात्र चिन्ता हो जाती है। आरोग्य तथा स्वास्थ्य के सारे नियम ताक पर रख दिये जाते हैं और आधी रात तक पढ़ना ही अधिकांश विद्यार्थियों की नियमित दिनचर्या बन जाती है। सच कहें तो वे परीक्षा करने के लिए अपने स्वास्थ्य तथा शक्ति को दाँव पर लगा देते हैं। और काम इतने से ही नहीं बनता। हर प्रकार के नोट्स, गाइडों, डाइजेस्टों, प्रश्नोत्तरों आदि को दिमाग में ठूँस देने पर विशेष बल दिया जाता है। इन सबको निगलना और परीक्षा के दौरान उगलना – यही इस संकट के लिए उबरने का एकमात्र उपाय प्रतीत होता है। कोर्स के लिए निर्धारित विषयों के पाठ्यक्रम ऐसे ही हास्यास्पद वस्तु बनकर रह जाते हैं! और इन सबके लिए परीक्षा की वर्तमान प्रणाली ही जिम्मेदार है।

और फिर ऐसी सतही तैयारी के बाद भी छात्र जब परीक्षा-हॉल में पहुँचते हैं, तो उनमें से बहुतों का साहस जवाब दे जाता है। दुर्बल स्नायुवाले छात्र, अपने विषय की अच्छी तैयारी करने के बावजूद, परीक्षा के लिए बैठने पर घबराकर गड़बड़ियाँ कर डालते हैं।

वर्धा परियोजना की कुछ टिप्पणियाँ यहाँ उद्धृत करने योग्य हैं : "हमारे देश में प्रचलित परीक्षा-प्रणाली शिक्षा के लिए अभिशाप सिद्ध हुई है। परीक्षाओं को उनकी उपयोगिता से भी काफी अधिक महत्त्व दिये जाने करने के कारण हमारी शिक्षा-प्रणाली को बद से बदतर बना दिया गया है। एक विशेषज्ञ मूल्यांकन करनेवाली सामान्य परीक्षाओं के द्वारा छात्रों तथा स्कूलों के कार्य की माप-जोख न तो उचित है और न ही परिपूर्ण। ये अपर्याप्त, अविश्वसनीय, सनकपूर्ण तथा निरंकुश हैं। आम राष्ट्रीय शिक्षा की प्रस्तावित प्रणाली को हम इनके अभिशापमय प्रभाव से बचाने की कोशिश करेंगे।"

यही वह उपयुक्त अवसर है, जबकि हम कोर्स के अन्त में एक ही निर्णायक परीक्षा के स्थान पर सामयिक परीक्षाओं की व्यवस्था करके, कक्षा तथा प्रयोगशाला में दैनिक कार्यों के

अनुसार छात्र की योग्यता का निर्धारण करें । बुद्धि की परीक्षा सामान्य परिस्थितियों में हो, न कि एक अस्वाभाविक मानसिक तनाव के बीच, जैसा कि वर्तमान पद्धति में किया जाता है । श्री एॅल्डस हक्सले अपने Ends and Means (साध्य और साधन) नामक पुस्तक में कहते हैं, 'सिद्धान्ततः अनेक शिक्षाशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि एकमात्र निर्णायक परीक्षा व्यक्ति की क्षमता की सर्वोत्तम जाँच नही है । उनमें से अनेक सिद्धान्त की अवस्था को पार करके अभ्यास की अवस्था में पहुँच चुके हैं और एकमात्र निर्णायक परीक्षा-प्रणाली को छोड़कर वर्षों तक चलनेवाले ज्ञान तथा बुद्धि की सामयिक जाँचों और शिक्षकों तथा निरीक्षकों की रिपोर्टों को अपना रहे हैं ।'' वर्धा योजना भी कहती है, ''छात्रों के चुने हुए समूहों की उपलब्धियों की एक निर्धारित क्षेत्र में नमूनों की माप करके स्कूलों के कार्य की एक प्रशासनिक जाँच के द्वारा'' परीक्षा का उद्देश्य भी काफी कुछ पूरा हो सकता है ।

पाठ्यक्रम

सार्जेण्ट योजना द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम वैसे ही हैं, जैसे कि होने चाहिये । इस योजना में सभी बालक-बालिकाओं के लिए आठ वर्ष तक व्यावसायिक प्रशिक्षण के साथ मुफ्त तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रावधान है, जो देशव्यापी शैक्षणिक संरचना का आधार बनाता है । यह छह से चौदह साल के बच्चों के लिए है और इसे दो स्तरों में विभाजित किया गया है । इनमें से पाँच वर्षों तक चलनेवाला पहला है – जूनियर बेसिक या प्राथमिक स्कूल और दूसरा है – बाकी तीन वर्षों तक चलनेवाला सीनियर बेसिक या माध्यमिक स्कूल। रिपोर्ट का कहना है, ''इस विभाजन का मुख्य कारण यह है कि ग्यारह या बारह वर्ष की अवस्था में किशोरावस्था का आरम्भ होने पर बालक-बालिकाओं में कुछ विशिष्ट शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन आते हैं, जिसके कारण उनके पाठ्यक्रम की विषयवस्तु तथा पढ़ाने की पद्धति – दोनों में ही तदनुसार समायोजन आवश्यक हो जाता है ।'' सीनियर बेसिक या माध्यमिक स्कूल का उद्देश्य है कि एक बालक उससे निकलकर ''एक कर्मी तथा एक भावी नागरिक के रूप में समुदाय में अपना स्थान ग्रहण करने'' की योग्यता हासिल कर सके । साथ ही इसका यह भी उद्देश्य है कि एक बालक सीनियर बेसिक स्कूल को छोड़कर कार्य के लिए जाते समय ''राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली द्वारा उसके सामने रखी गयी किसी भी व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी शिक्षा को जारी रखने की इच्छा से अनुप्राणित रहे ।''

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस योजना के तहत जूनियर बेसिक या प्राथमिक पढ़ाई की समाप्ति अर्थात ग्यारह वर्ष की आयु के बाद कम-से-कम पाँच वर्षों तक चलनेवाले सीनियर बेसिक या माध्यमिक शालाओं के अतिरिक्त भी विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों वाले अनेक प्रकार के प्राथमिकोत्तर विद्यालयों की व्यवस्था होगी । रिपोर्ट का कहना है, ''ये पाठ्यक्रम इस दृष्टिकोण से बनाये जायेंगे कि जिससे छात्रों के मूलभूत सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए, उन्हें औद्योगिक तथा व्यावसायिक रोजगार के साथ ही विश्वविद्यालय के लिए भी तैयार किया जा सके ।''

सीनियर बेसिक कोर्स की समाप्ति के बाद केवल कुछ मेधावी छात्र ही हाई स्कूल के तीन वर्षों के कोर्स में प्रवेश लेंगे । कोई कोई छात्र जूनियर बेसिक या प्राथमिक स्तर की समाप्ति के बाद ही छह वर्षों के पाठ्यक्रम के लिए हाई स्कूल में जा सकेंगे । दोनों ही परिस्थितियों में एक छात्र को अपनी शिक्षा के आरम्भ से हाईस्कूल के पाठ्यक्रम को पूरा

करने में कुल ग्यारह वर्ष लगेंगे। हाई स्कूल का पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाना होगा कि जिसमें यह कोर्स वर्तमान इन्टरमीडिएट कोर्स का एक वर्ष आत्मसात कर सके। यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है कि हाईस्कूल कोर्स के लिए जानेवाले छात्रों की संख्या कम-से-कम रखने के लिए बड़ी सावधानीपूर्वक उनका चयन करना होगा और बाकी को विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक रोजगारों में खपा कर लिया जायगा। बौद्धिक तथा तकनीकी – दो प्रकार के हाई स्कूलों की व्यवस्था – इस प्रणाली की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता होगी।

तीन वर्षों के स्नातक के कोर्स हेतु छात्रों का चयन करते समय कठोर उपायों का आश्रय लेना होगा। सार्जेण्ट रिपोर्ट की सिफारिशों के अनुसार स्नातक कोर्स में भी उसी के समानान्तर स्नातकोत्तर अध्ययन, शोध विभागों, बौद्धिक, व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा की भी व्यवस्था होगी।

इस प्रकार, इस योजना द्वारा सुझाई गयी शैक्षणिक संरचना एक बृहत देशव्यापी आधार के ऊपर एक पिरामिड के समान है, जिसमें सीनियर बेसिक या प्राथमिक शिक्षा के बाद शिखर की ओर क्रमश: घटती हुई उच्च से उच्चतर स्तर पर जानेवाली छात्रों की संख्या प्रत्येक स्तर पर अधिकाधिक सीमित होती जाती है। ऐसी ही एक संरचना का निर्माण हमारी वर्तमान सरकार का उद्देश्य है।

पुस्तकें

यह बड़ी ही उत्साहजनक बात है कि हाल ही में हमारे छात्रों को अच्छी तथा उपयोगी पुस्तकें उपलब्ध कराने की आवश्यकता भी महसूस की जाने लगी है। छात्रों के मन में विविध विषयों की विस्तुत तथा विस्तृत जानकारियाँ ठूँसनेवाली पुरानी शिक्षा-प्रणाली के प्रति बढ़ती हुई अरुचि के साथ-ही-साथ आधुनिक मनोवैज्ञानिक आधार पर लिखी गयी पुस्तकों की माँग हो रही है। मृदुता के साथ छात्रों के मन को ज्ञात से अज्ञात, परिचित से अपरिचित तथा मूर्त से अमूर्त की ओर ले जाने की दृष्टि से तैयार की जानेवाली पुस्तकों के प्रकाशन की दिशा में भले ही छोटे स्तर पर, लेकिन सही प्रयास हो रहे हैं। प्रारम्भ से ही उनके मनों को हर तरह के ऊबाऊ तथा अरुचिकर जटिल बातों से भरने के स्थान पर, धीरे धीरे यह महसूस किया जाने लगा है कि पुस्तकें सहज तथा रोचक होनी चाहिये, ताकि वे स्वत: ही छात्रों का ध्यान आकृष्ट कर सकें। उदाहरणार्थ अब प्रत्यक्ष पद्धति पर आधारित भाषा की प्राथमिक पुस्तकें प्रकाशित होने लगी हैं। यह एक आशाजनक लक्षण है। इस दिशा में प्रयासों को तीव्रतर करना होगा, ताकि ऐसी पुस्तकों की संख्या में काफी वृद्धि हो जाय और वे पुरानी पद्धति की पुस्तकों का स्थान ग्रहण कर लें।

पाठ्यक्रम के बाहर की अधिकाधिक पुस्तकें पढ़ने को उत्साहित किये जाने के कारण किशोरोपयोगी साहित्य में वृद्धि होने लगी है। पाठ्य-पुस्तकों के समान ही इन पुस्तकों में भी बालक को ऐसी रोचक कथाएँ तथा जानकारियाँ मिलनी चाहिये, जो उन्हें साहसी, सक्रिय, उद्यमी, ईमानदार, सच्चा, नि:स्वार्थ तथा उदार बनने की प्रेरणा प्रदान करें।

इसके अतिरिक्त पुस्तकों के माध्यम से उनमें उच्च आदर्शों के प्रति निष्ठा का भाव संक्रमित करके उनकी सांस्कृतिक आत्म-चेतना को जगाना होगा। उन्हें अपने उस धर्म के तत्त्व जानने होंगे, जिन पर उनकी संस्कृति आधारित है। उन्हें अपने पूर्वजों द्वारा विभिन्न

क्षेत्रों में प्राप्त की गयी विशिष्ट उपलब्धियों से भी परिचित कराया जाय। इतिहास की सही प्रस्तुति निश्चित रूप से उन्हें अपनी जाति की प्रतिभा के विषय में एक ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगी, जिससे उनमें स्वयं के प्रति तथा अपनी धुँधली संस्कृति के प्रति श्रद्धा का उदय होगा। हमारे युग के लिए यह एक बड़े आनन्द की बात है कि इस देश के विद्वान इतिहासकार वैज्ञानिक पद्धति से मूल्यवान शोधों पर आधारित प्रामाणिक इतिहास तैयार करने में सक्रिय हुए हैं। जैसे जैसे ये ग्रन्थ प्रकाशित होंगे, वैसे वैसे छात्रों के विभिन्न स्तरों की आवश्यकता के अनुरूप उनके क्षेत्रीय भाषाओं के संस्करण तथा संकलन निकालने होंगे। इससे हमारे छात्रों को सांस्कृतिक रूप से आत्म-चेतना लाने तथा विदेशी शिक्षा-प्रणाली से उत्पन्न उस हीन-भावना की बीमारी से मुक्त होने में सहायता मिलेगी, जो काफी काल से हमारे बुद्धिजीवी वर्ग को निष्प्राण करता आ रहा है। □(क्रमशः)□

एकान्त की जरूरत

भैरवदत्त उपाध्याय

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कुछ क्षणों का एकान्त चाहता है, ताकि वह मानसिक शान्ति, आध्यात्मिक शक्ति और कर्म की ऊर्जा को अर्जित कर सके। एकान्त का अर्थ है ऐसा स्थान जहाँ एक व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी की उपस्थिति न हो। जब व्यक्ति को भीड़ में खो जाने का भय होता है और वह संसार की चहल-पहल से घबरा जाता है, तब उसे एकान्त की आवश्यकता होती है, जिसकी खोज में वह हिमालय की गुफाओं, पूजागृहों, वनों, निजी कक्षों और निर्जन स्थानों की शरण में जाता है। वहाँ एकान्त के दिव्य दर्शन कर वह विराट् पुरुष की अनुभूति करता है और अपने अहं को विसर्जित कर स्व के व्यापक वृत्त से तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

यों तो मनुष्य अपने जातीय स्वभाव से सामाजिक प्राणी है। यह सच है कि एकान्त में रहते हुए जब वह ऊब गया था, भयभीत था और उसके अस्तित्व को ही खतरा हो चला था, तब उसने उस एकान्त को तोड़ने हेतु समाज की संरचना की थी। परन्तु रेशम के इस कीड़े के चारों ओर रेशमी धागों की इतनी कसावट हो गई कि वह स्वतन्त्र रूप से सांस लेने में भी कठिनाई का अनुभव करने लगा। तब वह फिर से उसकी तलाश में निकल पड़ा और चार-छह लमहों का शुकून पाने को इसी के आँचल में अबोध शिशु-सा समर्पित हो गया।

एकान्त सूनेपन या रिक्तता का प्रतीक है। मानव इस सूनेपन या रिक्तता की अनुभूति दो स्तरों पर करता है — भौतिक एवं मानसिक। समाज की भौतिक अनुपस्थिति भौतिक एकान्त का सृजन करती है। निर्मक्षिक, जनान्तिक तथा निर्जन — भौतिक एकान्त की अपर सज्ञाएँ हैं। परन्तु इस एकान्त में इतर ज्ञन की उपस्थिति सर्वथा बाधक नहीं है, बशर्ते अविश्वस्त एवं अनपेक्षित लोगों की भीड़ जमा न हो जाय। मन्त्रणा, प्रेम-साधना एवं

सृजन के हेतु इस एकान्त की आवश्यकता है। प्रेमी-साधक एवं कलाकार, अपने अनुकूल इसका उपयोग करते हैं। उत्कृष्ट कृति का जन्म एकान्त के इन्हीं क्षणों में होता है। कृतिकार के अचेतन मन के द्वार इन्ही क्षणों में खुलते हैं और वह अपने स्व की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति करने में सक्षम होता है। मन के निगृह के लिए योगी एकान्त की तलाश करता है और प्रेमी एक-बराबर-एक होने के लिए इसे पाने को आतुर रहता है।

मानसिक एकान्त निर्विचार एवं सकल्पशून्यता की स्थिति है। योगी समाधि की दशा में इसे प्राप्त करता है। साधारण मानव के मन की गहराई में जब एकान्त उतर जाता है, तब व्यक्ति में कुण्ठा, निराशा; अविश्वास, भय, कातरता, पौरुषहीनता तथा आत्महीनता तथा आत्मगोपन के भावों का जन्म होता है जिसके कारण वह आत्महत्या जैसे जघन्य अपराध को भी बुरा नहीं मानता। भीड़ में रहने पर वह अपने आपको अकेला, नि:सहाय एवं अनाश्रित महसूस करता है। इतना ही नहीं, वह भीड़ से कटता, घबराता और दूर भागता है। उसमें रुग्ण आत्मोन्मुखता पनपने लगती है। वह अपने इर्द-गिर्द सीमा-रेखाएँ खींचता है, जिन्हें न तो कभी वह स्वयं तोड़ता है और न दूसरों के द्वारा ही उनका तोड़ा जाना उसे अच्छा लगता है। मन की अचेतन परतों में दबी हुई एकान्त के प्रति भय की भावना अथवा व्यक्ति, वर्ग या समाज के प्रति दमित घृणा मन के गहन गह्वर में प्रविष्ट होकर मानसिक एकान्त की संसृष्टि करती है। यह विकर्षण का परिणाम है। जब व्यक्ति को वातावरण से अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त नहीं होती, तब विकर्षण का संवेग विकसित होता है। जिसके फलस्वरूप वह भीरु, एकान्त-प्रिय और पलायनवादी हो जाता है।

मनुष्य आरम्भ से ही एकान्त से डरता है। इसीलिए और कोई नहीं मिला, तो दीपक को ही अपना सहयोगी बनाकर अपनी एकान्तता को खण्डित करता है। भूत एकान्त में रहता है। चूँकि मन में पैठा एकान्त एकान्त में ही प्रकट होता है, अत: एकान्त खतरनाक है और साथ ही उपयोगी तथा आवश्यक भी है। आत्ममन्थन, आत्मावलोकन और आत्म-चिन्तन बिना एकान्त के असंभव है। ऋषियों की वाणी एकान्त में ही मुखरित हुई थी। महात्मा बुद्ध ने वहीं पर बुद्धत्व की प्राप्ति की थी। इसलिए एकान्त में बैठें, परन्तु उसे अपने मन की गहराई में न पैठने दें। ◻

कर्मठता की आवश्यकता

इस समय देश को रजोगुण की आवश्यकता है। जिन लोगों को तुम सत्त्वगुणी समझ रहे हो, उनमें से पन्द्रह आने लोग तो घोर तमोगुणी हैं। एक आना सतोगुणी मनुष्य मिल जाँय तो बहुत है। इस समय प्रबल रजोगुण की ताण्डव उद्दीपना चाहिए। देश के लोगों को उद्यमशील बना डालना होगा, जगाना होगा और कर्म-तत्पर बनाना होगा। — *स्वामी विवेकानन्द*

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— ८८ —

मायावती में जोंक का प्रकोप अवश्य ही बड़ा भयावह है, परन्तु भला ऐसी कौन सी जगह है जहाँ समस्याएँ न हों ? सभी स्थानों, वस्तुओं और व्यक्तियों में कुछ न कुछ दोष तो लगे ही रहते हैं — **सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः** — जैसे अग्नि धुएँ से ढँकी रहती है, उसी प्रकार सारे कर्म दोषों से आच्छादित रहते हैं। (गीता १८/४८)।

सभी कार्यों के विषय में ऐसा ही है, इसीलिए भगवान कहते हैं — **सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्** — हे कुन्तीपुत्र, दोषयुक्त रहने पर भी अपने स्वाभाविक कर्मों का त्याग करना उचित नहीं (गीता, १८/४७)। फिर कहते हैं — **बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव** — बुद्धियोग की सहायता से सर्वदा अपना चित्त मुझमें लगाए रखो (वही, १८/५७)। ऐसा करने पर ही सर्व प्रकार की शान्ति प्राप्त होगी।

इस भगवत्-चिन्तन को अभ्यास के द्वारा अपना स्वभाव बना लेना चाहिए। **दीर्घ-कालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः** — यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धासहित करने पर दृढ़मूल होता है (योगसूत्र, समाधिपाद, १४)। जल्दबाजी करने से नहीं होता, लगे रहना ही उपाय है। **तेरी बनत बनत बन जाई** — हरि से लगे रहना पड़ता है, इस लगे रहने का अभ्यास हो जाने पर ही काम बन जाता है। तब हरि ही भीतर-बाहर सर्वत्र विराजमान रहते हैं। तब सांसारिक घटनाएँ अधिक विचलित नहीं कर पातीं। वे आती ही न हों, ऐसी बात नहीं; परन्तु वे जैसे आती हैं, वैसे ही चली भी जाती हैं — प्रभावित नहीं कर पातीं।

देह धरे को दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से मूरख भुगते रोय ॥

कष्ट सबको होते हैं, परन्तु भेद केवल इतना है कि ज्ञानी उसमें अविचलित रहते हैं और अज्ञ दुखी होते हैं। उनके शरणागतों को कोई भय नहीं, प्रभु तुम्हारा सब ठीक कर लेंगे।

— ८९ —

तुमने आहार आदि के बारे में प्रश्न किया है। इस विषय पर काफी मतभेद हैं। प्रदेश तथा प्रचलन का भेद तो है ही, इसके अतिरिक्त स्वभाव की भिन्नता भी माननी पड़ती है। किसी एक प्रकृतिवाले व्यक्ति का इससे भला होता है तो किसी दूसरी प्रकृतिवाले का इससे विपरीत फल होता है। रोगी के पथ्य के अनुसार विचार करने पर यह विषय अलग हो ही जाता है। चिकित्सा शास्त्र में इसका वर्णन है, पर इसका निषेध न हो ऐसी बात भी नहीं है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न प्रयोगों का विधान है। सारांश यह कि जिसके खाने पर शरीर तथा मन स्वस्थ रहें, किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, वही आहार उचित है। एक व्यक्ति के लिए जो आहार सात्विक है; दूसरे के लिए वही असात्विक हो जाता है — यह स्पष्ट देखने को मिलता है। दूध इतना उत्तम आहार है, जिससे प्रायः सभी को कान्ति, पुष्टि

आदि मिलती है, वही यदि सर्प का आहार हो तो उसमें विष की ही वृद्धि करता है – **फणी पीत्वा क्षीरं वमति गरलं दुःसहतरम्** – सर्प दूध पीकर अति तीक्ष्ण विष उगलता है।

इस सम्बन्ध में ठाकुर का उपदेश है कि मन जिससे भगवान की ओर लगा रहे, वही उत्तम आहार है। यही सात्त्विक और असात्त्विक पहचानने का उपाय है; क्योंकि भगवान में मन लगना ही सात्त्विक भाव की पराकाष्ठा है। स्वामीजी ने भी अपने 'भक्तियोग' ग्रन्थ में आहार पर विशेष रूप से विचार किया है। जिससे तुम्हारा शरीर-मन अच्छा रहे, ऐसा आहार ही उचित है। चरम लक्ष्य तो यही है कि मन भगवान में लगे। जो लोग विषय-भोग करने के लिए स्वास्थ्य अच्छा रखने को लक्ष्य मानते हैं, उन्हीं के लिए विधि-विधान है। परन्तु जिनका लक्ष्य भगवद्-भजन ही है, उनके लिए ऐसे विधि-विधान की सफलता या असफलता निरर्थक प्रतीत होती है; क्योंकि उनका एकमात्र लक्ष्य यही है कि शरीर स्वस्थ रहने से भगवद्-भजन होगा। अतएव जो खाने से स्वास्थ्य ठीक रहे और भगवद्-भजन हो, वही आहार उचित है।

(९०)

मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे आपका शरीर स्वस्थ तथा मन को शान्त रखकर अपना भजन कराते रहें। सार बात तो यह है - "करो उनका नामगान, जब तक रहे देह में प्राण।", "हे प्राणसखा, तुम्हारा नाम लेकर मैं अपने प्राणों को शीतल करूँगा।" – इससे बढ़कर और कोई प्रार्थना नहीं। **प्रीतिः परमसाधनम्**। और कौन-सी साधना चाहिए? प्रेम ही तो सब कुछ है। स्वामीजी कहते हैं कि पार लगानेवाली यही एकमात्र नौका है। जीवन में भी उन्होंने इसी का पूर्णरूपेण पालन किया है। **अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्, मूकास्वादनवत्** – गूँगे के रसास्वादन के समान प्रेम का स्वरूप वाणी के अतीत है। ऐसा कहने के बाद नारद बताते हैं – **प्रकाशते क्वापि पात्रे** – वह पात्र विशेष में ही प्रकट होता है। फिर वे इस प्रेम की उपलब्धि का मार्ग बतलाते हैं – **संकीर्त्यमानः शीघ्रमाविर्भवति अनुभावयति भक्तान्** – संकीर्तन किये जाने पर वे शीघ्र प्रकाशित होते हैं और भक्तों को अनुभव कराते हैं। अतः उनके नाम का गायन करने से श्रेष्ठतर दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीलिए कहा है –

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्यैव नास्त्यैव नास्त्यैव गतिरन्यथा॥

इसीलिए तो ठाकुर भी गाया करते थे – "हे माँ काली, एकमात्र तेरे नाम का ही भरोसा है, मुझे पूजा के उपकरणों का क्या प्रयोजन! बाहर निकले हुए दाँतवाले व्यक्ति के दाँत निपोरने के समान ही मुझे लोकाचार की क्या आवश्यकता!"

हरेर्नामैव केवलम् – यही सार है। मेरी शुभकामनाएँ तथा स्नेह स्वीकार करेंगे। □

रामकृष्ण मिशन को वर्ष १९९८ का गाँधी शान्ति पुरस्कार

भारत सरकार ने १९९५ को अन्तरराष्ट्रीय गाँधी पुरस्कार संस्थापित किया जो अहिंसा और गाँधीजी के आदर्शों पर आधारित सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सुधारों हेतु प्रदान किया जाता है। यह वार्षिक पुरस्कार भारत सरकार द्वारा किसी भी क्षेत्र में दिया जानेवाला श्रेष्ठतम पुरस्कार है, जो महात्मा गाँधी की १२५वीं वर्षगांठ के उपलक्ष्य में स्थापित किया गया। पुरस्कार-निर्धारण हेतु जूरी में भारत के प्रधान मंत्री, लोकसभा में विपक्ष के नेता, भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश तथा दो अन्य गणमान्य व्यक्ति होते हैं। पुरस्कार में एक करोड़ रुपये की नकद राशि, एक प्रशस्ति पत्र और एक स्मृति चिह्न होता है।

वर्ष १९९८ का गाँधी शान्ति पुरस्कार रामकृष्ण मिशन को प्रदान किया गया। कलकत्ता के राजभवन में १३ फरवरी १९९९ को रामकृष्ण मिशन के लिए उक्त पुरस्कार भारत के राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन के हाथों रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज द्वारा ग्रहण किया गया। पुरस्कार के साथ दिया गया वह प्रशस्ति-पत्र इस प्रकार है –

''सत्य और अहिंसा की रक्षा, रोग और दुख का निवारण, तथा भाग्यहीन और वंचितों का पुनर्वास ऐसी कुछ चिरस्थायी चुनौतियाँ हैं जिनका सामना मानव जाति को करना पड़ रहा है। महात्मा गाँधी हमारे समय की उन महान आत्माओं में से थे जिन्होंने ऐसी निरन्तर बढ़ती हुई समस्याओं को उठाया। गाँधीजी हमारे इतिहास और विरासत की एक सन्तान थे। कहा जाता है, 'भारत को छोड़कर अन्य कोई देश और हिन्दू धर्म के अलावा कोई अन्य धर्म गाँधी पैदा नहीं कर सकता था।' गाँधीजी समाजसेवक और कर्मयोगी भी थे। उनके लिए देश और धर्म दो आँखें थीं और उनका जीवन ही उनका सन्देश था।

''भारत सरकार द्वारा संस्थापित 'गाँधी शान्ति पुरस्कार' सही अर्थों में ऐसे महानुभावों का सम्मान करता है, जो गाँधीवादी विश्वदर्शन को परिलक्षित करनेवाली विचारधाराओं और क्रिया-कलापों के प्रति समर्पित हैं। प्रथम बार यह पुरस्कार एक संस्था अर्थात रामकृष्ण मिशन को प्रदान किया जा रहा है। मई १८९७ में स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित यह मिशन श्रीरामकृष्ण परमहस के उपदेशों को प्रतिबिम्बित करता है जिनका जीवन ही महात्मा गाँधी के शब्दों में धर्ममय है।

''श्रीरामकृष्ण और उनके महान शिष्य स्वामी विवेकानन्द भारतीय चरित्र के सच्चे प्रतीक थे। वे आध्यात्मिक शक्ति, वैज्ञानिक मानस, सबके प्रति करुणा और विश्वबन्धुत्व के साकार रूप थे। स्वामी विवेकानन्द ने ही श्रीरामकृष्ण के सभी धर्मों की एकता के सन्देश को एक आध्यात्मिक आन्दोलन का रूप दिया जिसमें कहा गया कि ईश्वरानुभूति की प्राप्ति विश्व में पीड़ा और दुख को मुक्त करने के उद्देश्य से किये जानेवाले सामाजिक क्रिया के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। प्राचीन वेदान्तिक प्रज्ञा से आधुनिक वैज्ञानिक मानस तक स्वामीजी की व्याख्या ने आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान के बीच सेतु का निर्माण किया। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म विज्ञान भी है, और आधुनिक विज्ञान के अनेक निष्कर्षों में वेदान्त की ध्वनि देखी जा सकती है।

''विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस युग में, सौन्दर्यपरक और आध्यात्मिक जीवन का साथ साथ बिकास किया जाना चाहिए। मनुष्य तेजी से घूम रहे कुम्हार के चाक पर केवल मृत्तिका नहीं है। वह अपने सामाजिक परिवेश का स्वामी है तथा एक गौरवशाली अतीत का उत्तराधिकारी है। उसके पास एक जिज्ञासु मस्तिष्क, एक अन्तर्दर्शी मन, एक अतिसंवेदनशील आत्मा और सूक्ष्म अन्तःकरण है। उसके लिए जीवन वृक्ष उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि इस्पात का ग्रिड। इस आदर्श के महत्व को अनुभव करके रामकृष्ण मिशन ने हमारी सांस्कृतिक विरासत पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं जो हमारे गौरवशाली अतीत पर प्रकाश डालती हैं। मिशन ने हमें सौन्दर्य के उस मन्दिर के दर्शन कराए हैं जहाँ हमारा जन्म हुआ है।

''जो लोग कहते हैं —**अस्ति ब्रह्मेति सद् वेदः परोक्षम् ज्ञानमेव तत्** और जो लोग कहते हैं —**अहम् ब्रह्मेति सद् वेदः अपरोक्षमेतत् तु कथ्यते** — उनमें जमीन-आसमान का अन्तर है। **ईश्वर का अस्तित्व है** — ऐसा कहने के स्थान पर, यदि व्यक्तियों को उनके अन्दर विद्यमान ईश्वर से साक्षात्कार करने में सहायता की जाए तो ईश्वरीय ज्योति के प्रकाश में मनुष्य की आत्मा भी खिल उठेगी। मनुष्य हड्डियों का एक ढाँचा मात्र नहीं रह जाएगा, अपितु सत्य का अग्रदूत बन जाएगा। परमात्मा से साक्षात्कार, ईश्वरीय गहराई का अनुमान और करुणामय दृष्टिकोण का विकास धर्म के सारतत्त्व हैं। विवेकानन्द आत्मा के पैगम्बर थे जो ईश्वर से प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ने के इच्छुक थे। उनके लिए सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थों में **'नरसेवा — नारायण-सेवा'** थी।

''स्पष्टतः विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन ने सदैव कार्य और सेवा पर ध्यान केन्द्रित किया है। मिशन ने देश और विदेश में सेवा कार्य के जिन अनेक क्षेत्रों में ख्याति अर्जित की है उनमें शामिल हैं प्राकृतिक आपदाओं से पीड़ित लोगों की सहायता और पुनर्वास, शैक्षिक संस्थाओं के माध्यम से बच्चों और युवकों की सेवा, कल्याण केन्द्रों की स्थापना के द्वारा आदिवासियों की तत्काल आवश्यकताओं की पूर्ति, चिकित्सा सेवा के माध्यम से कष्टों का निवारण तथा धार्मिक सद्भावना के प्रचार-प्रसार के द्वारा साम्प्रदायिक सद्भाव और भाईचारे को बढ़ावा। अपनी पहल पर और अपने सहोदर संस्थाओं श्रीसारदा मठ और रामकृष्ण सारदा मिशन के द्वारा उसने महिला उत्थान में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस समय रामकृष्ण मिशन की १३७ शाखाएँ हैं तथा यह अस्पतालों, होस्टलों और ग्रामीण तथा जनजातीय विकास केन्द्रों जैसी विभिन्न संस्थाओं का संचालन करता है।

''रामकृष्ण मिशन देश व विदेश के लोगों में शान्ति व प्रसन्नता लाने में एक बहुत बड़ा स्रोत बन गया है, क्योंकि यह ईश्वर प्राप्ति के साधन के रूप में निःस्वार्थ सेवा पर विशेष बल देता है। रामकृष्ण मिशन द्वारा दी जा रही सेवाएँ सभी जातियों, धर्मों और भाषाओं के लोगों के लिए उपलब्ध हैं। भारत जैसे विशाल देश में, जहाँ पर विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय व समुदाय रहते हैं, एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता व बन्धुत्व के विचार का संपोषण अत्यधिक प्रासंगिक है। गाँधीजी ने जीवन पर्यन्त इसी आदर्श का संवर्धन किया।

''रामकृष्ण मिशन निःस्वार्थ और सक्रिय समाज सेवा की गाँधीवादी भावना को चरितार्थ करता है। वर्ष १९९८ का गाँधी शान्ति पुरस्कार रामकृष्ण मिशन को प्रदान करके भारत सरकार ने एक ऐसे सगठन का सम्मान किया है जिसने समर्पण की भावना से विगत शताब्दी से मानवता की सेवा की है, जो गाँधीवादी विचार और व्यवहार को परिलक्षित करता है।'' ☐